अहिंसक क्रान्ति का पाक्षिक मुख-पत्र

सर्वोदय जगत

वर्ष-41, अंक-14, 01-15 मार्च, 2018

8 मार्च : अंतर्राष्ट्रीय महिला-दिवस पर विशेष

मीरा बहन

मेरे लिए ईश्वर और बापू दो ही थे। अब वे दोनों एक हो गये हैं।

सर्व सेवा संघ
(अखिल भारत सर्वोदय मंडल)
द्वारा प्रकाशित

अहिंसक क्रान्ति का पाक्षिक मुख-पत्र
सर्वोदय जगत
सत्य, अहिंसा एवं सर्वोदय-सम्पूर्ण क्रांति का संदेश वाहक

वर्ष : 41, अंक : 14, 01-15 मार्च, 2018

प्रधान संपादक
बिमल कुमार
मो. : 9235772595
संपादक
अशोक मोती
फोन : 9430517733

संपादक मंडल
डॉ. रामजी सिंह **भवानी शंकर 'कुसुम'**

संपादकीय कार्यालय
सर्व सेवा संघ, साधना केन्द्र
राजघाट, वाराणसी-221001 (उ.प्र.)
फोन : 0542-2440-385/223
ईमेल : sarvodayajagat@gmail.com
Website : sssprakashan.com

शुल्क

मूल्य	:	05 रुपये
वार्षिक	:	100 रुपये
आजीवन	:	1000 रुपये

खाता संख्या : 383502010004310
IFSC No. UBIN-0538353
Union Bank of India
Rajghat, Varanasi

इस अंक में...

1. नारी में एक चेतना की जरूरत... 2
2. मेरी राष्ट्रीयता : हमारी राष्ट्रीयता... 3
3. राष्ट्रवाद दुनिया को टुकड़े करता है... 6
4. स्त्री-सशक्तीकरण की नई दिशा... 7
5. स्त्री की भूमिका और महत्त्व... 8
6. शांति सेना काम महिलाएं उठा लें... 10
7. बिन आपा चिन्हे... 11
8. सेवा की मूर्ति मीरा बहन... 12
9. बढ़ती आत्म-निर्भरता से ही बचेंगे... 15
10. उपन्यास 'बा'... 17
11. लोक संवेदना की कविताएं... 18
12. गतिविधियां एवं समाचार... 19
13. कविताएं... 20

संपादकीय

नारी में एक चेतना की जरूरत

अंतर्राष्ट्रीय महिला दिवस पर आज हम देश की महिलाओं के योगदान का न केवल मूल्यांकन करते हैं बल्कि आज के दिन और भी आगे बढ़ने की दिशा तय करते हैं।

भारत में कई विदूषी महिलाएं हुईं, जिन्होंने न अपने जीवन में केवल उच्च मुकाम बनाया बल्कि सामाजिक परिवर्तन में भी बड़ा योगदान किया। कई महिलाएं तो सत्ता के शीर्ष तक पहुंची और अपनी शख्सियत का झंडा विश्व में स्थापित किया। किन्तु यह व्यक्तिगत चेतना का परिणाम रहा है न कि किसी सामूहिक चेतना का।

आज देश में महिलाओं के साथ जो स्थिति बनी हुई है वह हमें यह सोचने के लिए बाध्य करती है कि क्या सही में यह नारी खुद को समझ पा रही है? यह नारी कौन है? यह नारी वही है, जिसे अपने अधिकार का तो नहीं किन्तु अपने कर्तव्य का पूरा ज्ञान रहता है। जहां तक महिला उद्यमिता का सवाल है, व्यावसायिक प्रतिष्ठानों में सिर्फ 14% प्रतिष्ठान ही महिलाओं द्वारा संचालित हैं। घर के बाहर निकलने के बावजूद परिवार की गुलामी जैसी ही बाहर में भी इनकी गुलामी है। यह इस बात को दर्शाता है कि घर की चहारदीवारियों को लांघकर बाहर कुछ करने वाली महिलाओं के सामने अभी भी कठिनाइयों का अंबार है। स्त्रियों के हालात में जो सुधार होने थे, वे नहीं हुए। इसीलिए वर्तमान स्थिति में इस विश्लेषण की जरूरत पड़ी है कि नारी आखिर इस दुष्चक्र से निकले कैसे।

सावित्रीबाई फुले प्रथम महिला शिक्षिका हुईं, ने विधवाओं की स्थिति सुधारने, सती प्रथा तथा कन्या भ्रूण हत्या, बाल-विवाह जैसी कुरीतियों से समाज को मुक्ति दिलाने में बड़ा योगदान किया। पंडित रमाबाई सरस्वती का भी इन क्षेत्रों में बड़ा योगदान रहा। स्वतंत्रता आंदोलन में सरोजिनी नायडू, जिन्हें 2 मार्च उनकी पुण्यतिथि पर स्मरणांजलि समर्पित है, का भी बड़ा योगदान था, चाहे साम्प्रदायिक दंगे में नोआखाली हो या गोलमेज परिषद के दौरान लंदन में या फिर नमक सत्याग्रह या दांडी मार्च में, सरोजिनी नायडू गांधी के पीछे नहीं, आगे चलती रहीं। मार्क्स और लेनिन ने दुनिया के मजदूरों को एक हो जाने को कहा, क्योंकि एकता में शक्ति है। गांधी ने इसलिए दुनिया के सारे मनुष्यों को एक हो जाने को कहा, क्योंकि मनुष्य-मनुष्य के एक होने से जनशक्ति प्रबल होगी। नारी की सामूहिक शक्ति प्रबल होने से ही लोकतंत्र में दंडशक्ति का लोप और सहकार शक्ति का प्रबल होना संभव है। सामूहिक नेतृत्व लोक या मनुष्य का होता है न कि किसी संगठित दल या किसी तानाशाह का।

मनुष्य की इस एकता की सोच में गांधी ने स्त्री और पुरुष में कोई भेद नहीं किया। जब स्वतंत्रता आंदोलन के दौरान शराबबंदी की बात आयी तो गांधी ने इसका कमान महिलाओं को ही सौंप दिया। इसलिए महिला और पुरुष प्रतिद्वन्द्वी की तरह नहीं बल्कि एक-दूसरे के पूरक के रूप में खड़े हों, क्योंकि नारी और पुरुष की मुक्ति उनकी एकता में है।

पुरुष के मन में तीव्र महत्त्वाकांक्षा है, जबकि स्त्री के चित्त में प्रेम है। पुरुष के मन में हिंसा और महत्त्वाकांक्षा के अतिरिक्त किसी भी बात का सम्मान नहीं है, इसलिए पुरुष ने अपने हिसाब से जीवन का निर्माण कर लिया। ऐसे संक्रमण काल में नये मूल्य और नयी प्रतिष्ठाओं की स्थापना करनी है। हजारों वर्षों से स्त्री का जीवन जो पुरुष सापेक्ष है, उसे बदलना होगा। समाज में स्त्री-पुरुष सहजीवन हो, यह तभी संभव होगा जब स्त्री भ्रांत धारणाओं से मुक्त होकर स्वरक्षित हो जाय।

स्त्री का मन कोमल होने से कमजोर होना नहीं है। प्रेम के लिए बराबरी का नाता चाहिए। जब तक स्त्री को पुरुष से भय बना रहेगा, तब तक वह उसे खुले दिल से प्रेम नहीं कर सकती। इसलिए नारी को चाहिए कि वह जिस किसी परिस्थिति में हो, अपने भय को त्याग दे और अपने प्रेम को, जो परिवार तक सीमित है, उसे समाज के व्यापक क्षेत्र में दिखलाने को अग्रसर हो जाय। अब तो संविधान में यह घोषणा है कि हम स्त्री-पुरुष का भेद नहीं मानेंगे। अतः नयी हिंसामुक्त जीवन संस्कृति पाने में स्त्रियों को अगुवाई करनी होगी ताकि गांधी-विनोबा की कही बात—''भविष्य महिलाओं का है'' गलत सिद्ध न हो।

भावी क्रांति, हितों के संघर्ष की नहीं बल्कि एक नयी मानवीय संस्कृति के निर्माण की है, यह स्त्रियों को समझ लेना चाहिए। पुरुषों को भी हर चीज अपने हाथ में रखने के दुराग्रह को छोड़ना होगा। नयी संस्कृति की यह मांग है कि हम अलगाव की दीवारों को तोड़ें और प्रेम तथा सहकार को जीवन से जोड़ें ताकि पुरुष और नारी शक्ति का समन्वित रूप समाज और देश में प्रकट हो सके। **–अशोक मोती**

मेरी राष्ट्रीयता : हमारी राष्ट्रीयता

❑ **गांधीजी**

राष्ट्रीयता या देशभक्ति की लूट मची है और कुछ लोगों ने उसका प्रमाणपत्र बांटने का एकाधिकार अपने नाम कर लिया है। जो इस एकाधिकार के आगे झुकता है, वह देशभक्त बाकी सारे देशभार! ऐसी राष्ट्रीयता हमें पामाल ही नहीं कर देगी, हमारे राष्ट्र को छिन्न-भिन्न भी कर देगी। ऐसे ही उन्माद के सामने महात्मा गांधी ने कोई 92 साल पहले कहा था, जो यहां प्रस्तुत है। –सं.

आज शाम के वक्ता की प्रशंसा में कुछ कहने के दायित्व से आप बड़ी होशियारी से बचकर निकल गये हैं। क्या ही अच्छा होता, अगर मैं भी कुछ बोले बिना बच निकलता। मैंने आशा की थी कि आपकी थोड़ी-सी प्रशंसा मिल जाने से मुझे कुछ उत्साह मिलेगा, लेकिन वैसा मेरी किस्मत में नहीं था। लेकिन आप इस सभा का संचालन जिस तरह कर रहे हैं और जिस तरह आपने इस छोटी-सी लड़की (पांच साल की एक लड़की की ओर इशारा करते हुए) को माला पहनायी है, उससे प्रकट होता है कि आप कम-से-कम किसी प्रकार का जाति-विद्वेष रखने के अपराधी नहीं हैं।

भारत में इस समय नयी पीढ़ी को निःसंदेह इसी समस्या का सामना करना पड़ रहा है। क्या यह संभव है कि कोई अपने देश को प्यार करे और उनसे घृणा न करे, जो उसके देश पर शासन करते हैं और जिनका शासन हम नहीं चाहते; बल्कि कहना चाहिए जिनके शासन को हम हृदय से नापसंद करते हैं? बहुत-से नौजवानों के हृदय में इसका उत्तर यह रहा है कि अपने देश को प्यार करना और उस पर शासन करने वालों से घृणा न करना असंभव है। कुछ ने खुलेआम अपने इस विचार को व्यक्त किया है, किसी-किसी ने उसे कार्यरूप देकर भी दिखाया है। लेकिन बहुत-से लोग मन-ही-मन ऐसा विचार रखते हैं और उनकी मनोरचना भीतर-ही-भीतर उससे प्रभावित होती रहती है।

इस सवाल पर मैं भी बहुत मनन करता रहा हूं और 1915 में भारत लौटने के बाद ही नहीं, बल्कि जबसे मैंने सार्वजनिक जीवन में और सार्वजनिक सेवा में प्रवेश किया, तभी से अर्थात 1894 से। काफी विचार करने के बाद मैं इस निष्कर्ष पर पहुंचा हूं कि किसी का देश-प्रेम अर्थात राष्ट्रीयता उन लोगों के प्रति प्रेम-भाव रखने से सर्वथा संगत है, जिनके शासन, जिनकी अधीनता, जिनके तरीकों को हम पसंद नहीं करते। दक्षिण अफ्रीका की सरकार से निबटने में या अधिक सही शब्दों में कहूं तो पहले तत्कालीन नेटाल सरकार से, उसके बाद ट्रांसवाल सरकार से और अंत में संघ सरकार से निबटने में, मेरा इस सवाल से सीधा सामना पड़ा। आप लोगों में से अधिकांश को वे निर्योग्यताएं घोर निर्योग्यताएं मालूम होंगी, जिन्हें हमारे देशभाई उस महाद्वीप दक्षिण अफ्रीका में झेल रहे हैं। ये निर्योग्यताएं इतनी अधिक हैं कि यदि व्यक्ति का विवेक स्थिर न रहे तो वह अपने साथी मनुष्यों से घृणा करने लगे। आप वहां अन्याय का बोलबाला देखते हैं, जिसका कारण सिर्फ यह है कि आपकी चमड़ी का रंग वैसा नहीं है जैसा कि उन लोगों की चमड़ी का है। संघ सरकार के संविधान में कहा गया है कि गोरे और रंगदार लोगों के बीच समानता नहीं हो सकती। एक समय में यह धारा ट्रांसवाल के संविधान में थी, लेकिन उसी संविधान को अब संघ सरकार ने अपना लिया है। भारत में आकर आप बिलकुल वही चीज तो नहीं, लेकिन लगभग वैसी ही चीज जरूर देखते हैं और अकसर लोगों को इन दो भावनाओं अर्थात देशप्रेम और जिन्हें आप खूंखार शेर समझ सकते हैं, उनके प्रति प्रेम के बीच मेल बैठा पाना कठिन लगता है। आप जो सोचते हैं वह न्यायोचित और सही है अथवा गलत है, यह एक अलग बात है, लेकिन आपके मन पर यही छाप पड़ती है कि आप भयंकर किस्म का अत्याचार सहन कर रहे हैं, घोर अन्याय के शिकार हो रहे हैं। तो फिर आप खूंखार शेरों को प्यार कैसे कर सकते हैं?

अब मैं यही बात दूसरे शब्दों में कहता हूं। मेरा मतलब यह नहीं है कि आप शेर से प्यार करें ही, लेकिन मैं यह कहना चाहता हूं कि प्रेम एक सक्रिय शक्ति है। आज की सभा का विषय यह है—क्या खूंखार शेर से घृणा करना जरूरी है? आप दूसरों से प्यार भले ही न करें, किन्तु क्या जरूरी है कि आप उनसे घृणा करें ही? जैसा कि मैंने पहले कहा, बहुत-से लोगों के मन में इसका जवाब यही है कि हां, आपको घृणा करनी ही चाहिए। मैं जानता हूं कि कुछ लोग खूंखार शेर से घृणा करना अपना कर्त्तव्य समझते हैं और वे अपनी मान्यताओं के प्रमाणस्वरूप आधुनिक संविधान के उदाहरण पेश करते हैं। वे यूरोप के गत विनाशकारी महायुद्ध का उदाहरण देते हैं; वे उन युद्धों की मिसाल देते हैं जिनके बारे में उन्होंने इतिहास में पढ़ा है; वे कानून का भी उदाहरण देते हैं और कहते हैं कि जो लोग हत्या करने के अपराधी होते हैं, उन्हें समाज फांसी के तख्ते पर चढ़ा देता है। क्या यह घृणा का लक्षण नहीं है? बेशक, उसमें प्रेम तो नहीं ही है। लेकिन अगर किसी का पिता या ऐसा ही कोई अन्य

अतिप्रिय व्यक्ति फांसी पर चढ़ा दिये जाने लायक काम करे तो क्या वह उससे प्यार करना छोड़ देगा? वह यह कामना अवश्य करेगा कि उसमें सुधार हो, लेकिन उसको दंड मिलने की कामना नहीं करेगा। इस कथन में काफी औचित्य है कि लोगों को सही मार्ग पर चलाने के लिए जो व्यवस्था है, उसमें से अगर दंड का विधान हटा लिया जाये, उसे स्थगित अथवा समाप्त कर दिया जाये तो समाज छिन्न-भिन्न हो जायेगा। इन उदाहरणों को देखकर नौजवान लोग तुरंत इस निष्कर्ष पर पहुंच जाते हैं कि जो लोग राष्ट्रीयता के लिए दूसरों से घृणा करना जरूरी नहीं मानते, वे गलती पर हैं। मैं उनको दोष नहीं देता। वे दया के पात्र हैं। मेरी सहानुभूति ही उन्हें मिलनी चाहिए; लेकिन मेरे मन में तनिक भी संदेह नहीं है कि वे बहुत बड़े भ्रम में पड़े हुए हैं, और जब तक उनका रुख ऐसा ही रहता है, जब तक पुरुषों और स्त्रियों का एक बहुत बड़ा समूह ऐसा रुख बनाये रखता है, तब तक वे देश की प्रगति और संसार की प्रगति के मार्ग में एक रुकावट बने रहेंगे। मैंने जो उदाहरण दिये हैं, उन्हीं सबको उनके आचरण का औचित्य सिद्ध करने के लिए भी पेश किया जा सकता है; किन्तु इससे मेरे लिए कोई फर्क नहीं पड़ता।

संसार घृणा से ऊब गया है। हम देख रहे हैं कि अब पश्चिमी राष्ट्रों पर एक थकान हावी होती जा रही है। हम देख रहे हैं कि घृणा का राग अलापने से मानवता की कोई भलाई नहीं हुई है। अब आप ऐसा कीजिए जिससे भारत एक नया अध्याय शुरू कर सके और संसार को एक नया पाठ पढ़ाया जा सके। क्या तीस करोड़ लोगों के लिए एक लाख अंग्रेजों से घृणा करना जरूरी है? मैं समझता हूं कि आज अगर इस सुस्पष्ट प्रश्न पर विचार किये जाये तो उसमें आज की चर्चा के विषय का पूरा सार आ जायेगा। मेरी नम्र सम्मति में अंग्रेजों से एक क्षण के लिए भी घृणा करना मानवता की प्रतिष्ठा के लिए, भारत की प्रतिष्ठा के लिए बहुत अश्रेयस्कर है। इसका मतलब यह नहीं कि भारत में अंग्रेज शासक जो अत्याचार करते देखे गये हैं उनकी ओर से आप आंखें बंद कर लें। मैंने बुराई करने वालों में यह विशेष अंतर रखा है। बुराई से घृणा कीजिए, लेकिन बुराई करने वाले से नहीं। हम खुद भी, हममें से एक-एक व्यक्ति बुराई से भरा हुआ है। लेकिन हम चाहते हैं कि संसार हमारे साथ धैर्य से काम ले, हमें क्षमा करता रहे, हमारे साथ नम्रता बरते। मैं चाहता हूं कि अंग्रेजों के साथ भी हम ऐसा ही व्यवहार करें। ईश्वर जानता है कि भारत में ऐसा कोई भी व्यक्ति नहीं जो यह दावा कर सकता हो कि वह अंग्रेज-शासकों के कुकृत्यों और जिस प्रणाली से हम शासित होते हैं, उस प्रणाली की बुराई के बारे में मुझसे अधिक तीव्रता और निर्भीकता से बोला है। किन्तु इस कारण से कि मैं घृणा से मुक्त हूं और स्वयं अपने विषय में तो मैं यहां तक कहूंगा कि जो लोग अपने को मेरा दुश्मन मानते हैं, उनके प्रति भी मेरे मन में प्रेम है। लेकिन मैं उनकी गलतियों की ओर से अपनी आंखें बंद नहीं कर सकता। *प्रेम के पात्र में सचमुच विद्यमान अथवा कल्पित किसी गुण के ही कारण जो प्रेम दिया जाता है वह प्रेम, प्रेम नहीं है। अगर मैं अपने प्रति ईमानदार हूं, अगर मैं मानव-समाज के प्रति ईमानदार हूं, तो मुझे उन तमाम दोषों को समझना चाहिए जो किसी मानव देहधारी में होते ही हैं। मुझे अपने विरोधियों की कमजोरियां समझनी चाहिए, उनकी बुराइयां समझनी चाहिए, और फिर भी इन दोषों के बावजूद उनसे घृणा नहीं करनी चाहिए वरन् बने तो उनसे प्रेम भी करना चाहिए। यह अपने-आप में एक बड़ी शक्ति है। पशुबल तो हमें पीढ़ी-दर-पीढ़ी विरासत में मिलता आया है। हमने इसका प्रयोग करके देख लिया कि इससे यूरोप का और संसार का कितना नुकसान हुआ। यूरोपीय सभ्यता की चमक-दमक हमें चमत्कृत नहीं करती। ऊपरी चमकदार परत हटा कर देखें तो आप पायेंगे कि अंदर ऐसा कुछ भी नहीं है, जिसे पसंद किया जा सके।*

एक क्षण को भी आप ऐसा न मानें कि मैं पश्चिम की सभी चीजों का निंदक हूं। इस समय मैं आधुनिक सभ्यता की—इसे पाश्चात्य सभ्यता नहीं कहें—प्रमुख विशेषता की चर्चा कर रहा हूं, और इसकी प्रमुख विशेषता विश्व में बलवान जातियों द्वारा कमजोर जातियों का शोषण है। उसकी प्रमुख विशेषता भौतिक समृद्धि को भगवान मानना है। मैंने इसे 'शैतान' कहने में भी संकोच नहीं किया है। जिस शासन प्रणाली के अंतर्गत हम कष्ट झेल रहे हैं, उसे मैंने शैतानी शासन कहने में संकोच नहीं किया है। और मैं उसमें से एक शब्द भी वापस नहीं लेता। लेकिन आज इसकी चर्चा नहीं करूंगा। अगर मैं बुराई करने वालों को सजा देने का उपाय ढूंढ़ने लगूं तो मेरा काम होगा उनसे प्यार करना और धैर्य तथा नम्रता के साथ उन्हें समझाकर सही रास्ते पर ले आना। इसलिए असहयोग या सत्याग्रह घृणा का गीत नहीं है। मैं जानता हूं कि अपने को सत्याग्रही या असहयोगी बताने वाले बहुत-से लोग इस शब्द के योग्य नहीं हैं। उन्होंने स्वयं अपने धर्म के प्रति हिंसा की है। वे इस सिद्धांत के सच्चे प्रतिनिधि नहीं थे। सच्चे असहयोग का मतलब बुराई करने वाले से नहीं, बल्कि बुराई से असहयोग करना है।

मैं जानता हूं कि कभी-कभी बुराई करने वाले में भेद करना कठिन हो जाता है। सवाल यह है कि बुराई करने वाले से नहीं, बुराई से असहयोग करें, कैसे? मैं इस गूढ़ सिद्धांत की पूरी चर्चा यहां नहीं करना चाहता। मैं तो सिर्फ उसी की चर्चा कर सकता हूं, जो इन 5-6 वर्षों से होता रहा है। अगर हम इस सिद्धांत के रहस्य को समझ जाएं और बुराई से घृणा करके भी बुराई करने वाले से घृणा न करने के बीच जो सुंदर संगति है, उसे समझ जायें तो जैसा कि मैंने कहा है, हमें आज जरूरत सिर्फ इतना करने की है कि पारिवारिक संबंधों में हम जो नियम लागू करते हैं उसे राजनीतिक क्षेत्र में भी लागू करें और इसलिए उसे शासकों और शासितों के बीच के संबंधों पर भी लागू करें। फिर तो आपको आसानी से सही हल मिल जायेगा। जिस पुत्र में बुरे काम करने और बिगड़ने की प्रवृत्ति होती है, उसके साथ पिता कैसा व्यवहार करता है? वह न उसे सजा देता है, न बढ़ावा, बल्कि उसे सुधारने की कोशिश करता है।

आपके असहयोग का उद्देश्य बुराई को बढ़ावा देना नहीं है। यही इसका मतलब है। एक बहुत बड़े लेखक ने कहा है कि अगर दुनिया बुराई को बढ़ावा देना बंद कर दे तो बुराई अपने लिए आवश्यक पोषण के अभाव में अपने-आप मर जाये। अगर हम यह देखने की कोशिश करें कि आज समाज में जो बुराई है, उसके लिए खुद हम कितने जिम्मेदार हैं तो हम देखेंगे कि समाज से बुराई कितनी जल्दी दूर हो जाती है। लेकिन हम प्रेम की एक झूठी भावना में पड़कर इसे सहन करते हैं। मैं उस प्रेम की बात नहीं करता, जिसे पिता अपने गलत रास्ते पर चल रहे पुत्र पर मोहांध होकर बरसाता चला जाता है, उसकी पीठ थपथपाता है; और न मैं उस पुत्र की बात कर रहा हूं जो झूठी पितृ-भक्ति के कारण अपने पिता के दोषों को सहन करता है। मैं उस प्रेम की चर्चा नहीं कर रहा हूं, मैं तो उस प्रेम की बात कर रहा हूं, जो विवेकयुक्त है और जो बुद्धियुक्त है और जो एक भी गलती की ओर से आंख नहीं बंद करता। यह सुधारने वाला प्रेम है और ज्यों ही हम इस रहस्य को समझ जायेंगे, त्यों ही बुराई दूर हो जायेगी।

मैं दो जातियों के संबंधों की चर्चा कर रहा हूं। आप उन अनेक बुराइयों पर विचार कीजिए, जो आज हम हिन्दू लोगों में समायी हुई हैं। मुसलमानों, पारसियों, ईसाइयों तथा दूसरों की बात तो रहने दीजिए, हम में से अधिकतर लोग हिन्दू हैं। हम उन बुराइयों से कैसे निबटें, जो हिन्दू-धर्म में हैं? जो लोग अस्पृश्यता को हिन्दू-धर्म का अंग मानते हैं और उसके पक्ष-समर्थन में शास्त्रों के प्रमाण देते हैं, उनसे हम घृणा करें या कि निरंतर योग्य आचरण करके हम इस बुराई को दूर करें? तो इसका रहस्य है कष्ट सहन, बुराई करने वालों को कष्ट देना नहीं बल्कि सभी कष्टों का भार स्वयं अपने सिर ले लेना। अगर हम हिन्दू-धर्म में प्रविष्ट अनेक बुराइयों को दूर करना चाहें तो हम वाइकोम के उदाहरण का अनुकरण करके ही वैसा कर सकते हैं। यह मुझे स्वाभाविक रूप से याद आ गया है, क्योंकि किसी निर्दोष उदाहरण की कल्पना हम अतीत के किसी प्रशंसनीय उदाहरण के आधार पर ही कर सकते हैं। मैं उन बहादुर नौजवानों में से हर एक को जानता हूं। मेरा ख्याल है कि वाइकोम में भयंकर कठिनाइयों के बीच काम करने वाले हर व्यक्ति को मैं जानता हूं। उन्होंने ऐसी कठिनाइयां झेली हैं, जिनका वर्णन मैं यहां कुछ क्षणों में नहीं कर सकता, लेकिन मैं आपके सामने यह साक्षी भरने का साहस करता हूं कि इन नौजवानों ने कहीं तनिक भी भूल नहीं की है—मेरा मतलब है वाइकोम के नौजवानों ने! मैं यह नहीं कह सकता कि व्यक्तियों ने भूल नहीं की है, लेकिन कुल मिलाकर उन्होंने अपना आचरण बिल्कुल निष्कलंक रखा है। परिणाम यह है कि यद्यपि वे अभी इस बुराई को पूरी तरह तो दूर नहीं कर पाये हैं, पर मुझे इसमें जरा भी संदेह नहीं है कि त्रावणकोर में अस्पृश्यता के पांव उखड़ गये हैं। यह बुराई आज उन मुट्ठीभर नौजवानों के संकल्प के कारण ही, जिन्होंने अपने को वाइकाम सत्याग्रह में झोंक दिया और कष्टों को खुशी-खुशी अपने सिर ओढ़ लिया, वहां से मिटती नजर आ रही है। सचमुच यही इसका रहस्य है।

तो फिर मेरी तुच्छ सम्मति में घृणा राष्ट्रीयता के लिए जरूरी नहीं है। जातीय घृणा सच्ची राष्ट्रीय भावना को मार देगी। हमें समझ लेना चाहिए कि राष्ट्रीयता क्या चीज है। हम अपने देश के लिए आजादी चाहते हैं। लेकिन हम दूसरे देशों के लिए कष्ट नहीं चाहते; हम दूसरे देशों का शोषण नहीं चाहते; हम दूसरे देशों का अपकर्ष नहीं चाहते। जहां तक खुद मेरा संबंध है, अगर भारत की आजादी का मतलब अंग्रेजों का विलोप हो, अंग्रेजों का विनाश हो, तो मैं भारत की आजादी नहीं चाहता। मैं अपने देश की आजादी इसलिए चाहता हूं कि दूसरे देश हमारे आजाद देश से कुछ सीख सकें। जिस प्रकार आज देशभक्ति का यह तकाजा है कि व्यक्ति को परिवार के लिए मरना चाहिए, परिवार को गांव के लिए, गांव को जिले के लिए, जिले को प्रांत के लिए, प्रांत को देश के लिए, उसी प्रकार मैं अपने देश की आजादी इसलिए चाहता हूं कि उसकी शक्ति और साधनों का उपयोग मानवता के लाभ के लिए हो सके। और जब हम प्रांतीय भावना को लेकर चलते हैं तब एक गुजराती की हैसियत से मैं अगर यह कहूं कि सबसे पहले गुजरात—और बंगाल तथा अन्य प्रांतों का सवाल उसके बाद ही उठता है तो इसमें जरा भी राष्ट्रीयता नहीं है। इसके विपरीत अगर मैं गुजरात में रहता हूं और गुजरात को तैयार करता हूं तो उसे इस तरह तैयार करना चाहिए जिससे गुजरात के विस्तृत साधनों का उपयोग बंगाल और बंगाल ही क्यों, सारा हिन्दुस्तान कर सके, जिससे गुजरात भारत के लिए मर मिटे। इसलिए मेरा राष्ट्र-प्रेम यह है कि हमारा देश आजाद हो सके; इसलिए आजाद हो सके कि जरूरत पड़े तो मानव-जाति की रक्षा के लिए सारा देश मर मिटे। इसमें किसी जाति से घृणा करने की गुंजाइश नहीं है। मेरी कामना है कि हमारी राष्ट्रीयता ऐसी ही हो।

(भाषण समाप्त होने पर इंपीरियल लाइब्रेरी के पुस्तकालयाध्यक्ष श्री चैपमैन के प्रश्न के उत्तर में गांधीजी ने बड़ा करारा उत्तर दिया। श्री चैपमैन के प्रश्न का आशय यह था : ''जबकि भारतीय अपना शासन स्वयं चलाने योग्य नहीं हैं, ऐसी स्थिति में भारतीयों का राजनीतिक स्वतंत्रता और समानता पर साग्रह जोर देना क्या जातीय घृणा को बढ़ावा नहीं देता?)

मैंने जो कुछ कहा है, उससे अगर आपने यह निष्कर्ष निकाला है कि जब तक हम में अपना कारोबार खुद ही संभालने की योग्यता नहीं आ जाती तब तक हम आपके शासन में रहें तो आप भ्रम में हैं। हम वह योग्यता इस शासन-प्रणाली का विरोध करके ही विकसित कर सकते हैं और मैं इतना और कहना चाहता हूं कि प्रश्नकर्ता जब यह कहते हैं कि भारतीय अपना शासन स्वयं चलाने के योग्य नहीं हैं तो वे अपने जातीय पूर्वाग्रह का परिचय देते हैं। ऐसे पूर्वाग्रह के भीतर उच्चता की भावना और यह अहंकार छिपा हुआ है कि अंग्रेज संसार पर शासन करने के लिए ही जनमे हैं। इस भावना के विरुद्ध लड़ने के लिए मैंने अपने पूरे जीवन को उत्सर्ग कर

दिया है। जब तक अंग्रेज इस स्थिति से च्युत नहीं कर दिये जाते तब तक भारत में शांति नहीं हो सकती और न दुनिया की दूसरी कमजोर जातियों को ही शांति मिल सकती है। अगर भारत अपना शासन ठीक ढंग से नहीं चला सकता तो उसे अधिकार है, वह उसे बुरे ढंग से ही चलाये। जो भी विदेशी मेरे देश पर ऐसी शांति थोपता है जिसे यहां ब्रिटेन प्रदत्त 'सुख-शांति' कहा जाता है, उसके प्रति मेरा हृदय विद्रोह कर उठता है।...

...मेरी देशभक्ति संकुचित नहीं है। उसमें केवल भारत का ही नहीं, सारी दुनिया का कल्याण समाविष्ट है। मैं एक विनीत मनुष्य हूं। अपनी मर्यादाओं को जानता हूं। इसलिए मैं केवल अपने देश की सेवा करके ही संतुष्ट हूं—हां, मैं इस बात की चिन्ता जरूर करता हूं कि मेरे हाथ से कोई ऐसा काम न हो जिससे किसी भी दूसरे देश को कुछ हानि पहुंचे। मेरी समझ में किसी व्यक्ति के लिए राष्ट्रवादी बने बिना अंतर्राष्ट्रवादी बनना असंभव है। अंतर्राष्ट्रवाद उसी अवस्था में सफल होगा जब राष्ट्रवाद मजबूत होगा अर्थात जब भिन्न-भिन्न देशों के लोग सुसंगठित होकर एक आदमी की तरह, मिल-जुलकर सारे काम कर सकेंगे।

राष्ट्रवाद बुरी बात नहीं है; बुरी बात तो है संकीर्णता, स्वार्थपरता और अलगाव का भाव, जो वर्तमान राष्ट्रों को तबाह करके अपने को आबाद करना चाहता है। मेरा खयाल है कि भारत के राष्ट्रधर्म ने एक जुदा ही रास्ता दिखाया है। वह सारी मनुष्य जाति की हित-साधना और सेवा के लिए अपने को सुसंगठित या पूर्ण विकसित करना चाहता है। मुझे अपनी देशभक्ति या अपने राष्ट्रवाद के विषय में कोई संदेह नहीं है। ईश्वर ने मुझे भारतवर्ष के लोगों में जन्म दिया है, इसलिए यदि मैं उनकी सेवा में गफलत करूं तो मैं अपने सिरजनहार का अपराधी बनूंगा। यदि मैं उनकी सेवा करना नहीं जानता तो मुझे मानव-जाति की सेवा करना कभी नहीं आयेगा; और जब तक मैं अपने देश की सेवा करता हुआ किसी दूसरे राष्ट्र को नुकसान नहीं पहुंचाता तब तक मैं पथभ्रष्ट नहीं हो सकता। ❑

राष्ट्रवाद दुनिया को टुकड़े करता है

❑ **विनोबा**

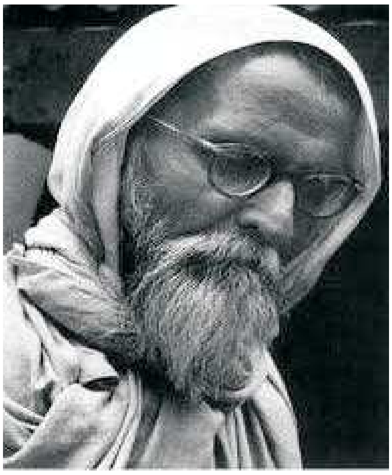

हमारे देश में 'राष्ट्रवाद' नामक एक नया ही पदार्थ आया है और बड़ी धूमधाम से आया है। नारा है कि 'हमारे देश में देशाभिमान नहीं था' जिसकी यहां बड़ी जरूरत है।

भारत अंतर्राष्ट्रीय राष्ट्र है। यह इस देश की संस्कृति का परिणाम है। ऐसा नहीं है कि यहां पहले भेद नहीं थे। यहां अनेक भेद थे; रीति-रिवाजों में भी भिन्नता थी। फिर भी हम लोगों ने इस देश को एक माना और एक अंतर्राष्ट्रीय राष्ट्र बनाया।

राष्ट्रवाद अणुयुग के खिलाफ है। आज का युग-प्रवाह एक होने का है, विश्व-राज्य का है। जिस तरह एक राष्ट्र में हर प्रांत अपनी-अपनी थोड़ी आजादी केन्द्र को समर्पित करता है, वैसे ही हर देश को अपनी थोड़ी-थोड़ी आजादी विश्व को समर्पण करनी होगी।

राष्ट्रवाद क्या करता है? दुनिया के टुकड़े करता है। एक तरफ हमारा राष्ट्र दूसरी तरफ सारे राष्ट्र! यह स्वकीय और बाकी सब परकीय!! दुनिया के अन्य सभी राष्ट्रों को परकीय मानना कहां तक ठीक है? जातिवाद, कुटुंबवाद, राष्ट्रवाद, इत्यादि सब टुकड़े करते हैं—एक में हम और बाकी में सब!

भारत की संस्कृति 'वैश्वानर' संस्कृति है। मतलब, दुनिया में जितनी विविधता है, उतनी भारत में है। भारत एक छोटे परिमाण का विश्व ही है। इसलिए यहां का जो नेशनलिज्म (राष्ट्रवाद) है, उसे इंटर-नेशनलिज्म (अंतर्राष्ट्रीयवाद) का स्वरूप दिया तो ही हम टिक सकेंगे, ऐसी ईश्वर की योजना है। विचार में राष्ट्रवादी रहेंगे, तो आप पिछड़ जायेंगे।

जैसे जातियों से आग लगती है, विज्ञानयुग में राष्ट्रवाद से भी आग लगती है। अब यह टिक नहीं सकेगा। इसीलिए मैंने 'जय जगत' का नारा लगाया है। सारे विश्व की भलाई में भारत की भलाई भी निहित है। राष्ट्रवाद का सिद्धांत पुराना पड़ गया है। हमें विश्ववाद का सिद्धांत कायम करना होगा।

लोग अपने-अपने देश का अभिमान रखते हैं। 'सारे जहां से अच्छा हिन्दुस्तां हमारा—हमारा देश अच्छा क्यों है? वह हमारा है इसलिए? अगर हम अफगानिस्तान में होते, तो क्या कहते? यह आब्जेक्टिव (वस्तुनिष्ठ) कथन नहीं है, संकुचित है। विश्वमानव इस तरह नहीं बोलेगा। वह अपने को किसी देश का निवासी नहीं मानेगा। हमारे मन में भाषा यह होनी चाहिए कि हम विश्वमानव हैं।

विश्व से कम कोई चीज नहीं। हमारी बुनियाद होगी ग्राम-परिवार और शिखर होगा विश्व-परिवार! 'व्यापक चिन्तन और विशिष्ट सेवा' अर्थात चिन्तन में विश्व, कार्य में ग्रामस्वराज्य। ग्रामनीति और विश्वनीति दोनों ही चलेगी। *हमारा मंच होगा जयजगत और तंत्र होगा ग्रामस्वराज।* सेवा के लिए छोटा क्षेत्र चाहिए, चिन्तन के लिए व्यापकता चाहिए। अगर हम सेवा को व्यापक बनाने की कोशिश करेंगे, तो हमारे हाथ से सेवा नहीं होगी। चिन्तन छोटा हो गया, तो हम संकुचित हो जायेंगे। और अगर सेवा व्यापक बनाने जायेंगे, तो निष्फल हो जायेंगे। ❑

स्त्री-सशक्तीकरण की नई दिशा

❑ राधाबहन भट्ट

स्त्री खुद अपने दोयम स्थान से प्रथम स्थान में जाने की जद्दोजहद न करे, वह पुरुषों को अपनी दोयम स्थिति के लिए उलाहना न दे, इसके लिए क्रोध करके अपनी प्रेम यानी अहिंसा की संजीवनी शक्ति को व्यर्थ न करे। समग्र समाज जिसमें स्त्री भी है तो पुरुष भी है जिसमें लड़कियां व लड़के भी हैं, सबके बृहत हित के लिए वह अपनी ईश्वर प्रदत्त शक्तियों का उपयोग करेगी तो उसका मान स्वतः ही बढ़ने वाला है।

गांधीजी ने कहा था कि स्त्री अहिंसा की प्रतिमूर्ति है, वे यह भी कहते थे कि यदि समाज को अहिंसक समाज बनाना है तो उसमें स्त्री की भूमिका सर्वोपरि है। उसे विश्व को शांतिपूर्ण बनाने में नेतृत्व देकर अपना भाग अदा करना पड़ेगा।

विनोबाजी ने स्त्री की इस भूमिका के लिए कुछ और अधिक विश्लेषणात्मक तथ्य गीता से निकाले। गीता के विभूतियोग अध्याय में भगवान ने कहा, 'श्री वाक्च नरीणां स्मृतिर्मेधा धृति क्षमा', नारी में सन्निहित गुण—श्री, वाणी, स्मृति, मेधा (ज्ञान) धैर्य और क्षमा को उन्होंने लक्षित किया है। ये स्त्री की प्रकृति प्रदत्त शक्तियां हैं। स्त्री के व्यक्तित्व में अंतर्निहित इन गुणों का पूर्ण विकास हो और वह इन्हें अपने जीवन में प्रकट करके समाज में इसे प्रस्थापित करे। अहिंसक समाज की प्रस्थापना के इन दोनों पुरोधाओं ने स्त्री-मुक्ति के सिद्धांत से भी आगे बढ़कर स्त्री-शक्ति जागरण की बात कही—जिस शक्ति के बल पर विश्व अहिंसा के पथ पर अग्रसर हो सकता है। इसकी अपेक्षा आज का समाज तीव्रता से कर रहा है क्योंकि समाज धैर्य (सहिष्णुता) और क्षमा यानी संवेदनशीलता अर्थात प्रेम की शक्तियों से बिल्कुल रिक्त हो गया है। वह चूंकि मधुर शालीन वाणी तथा स्मृति रूपी ज्ञान व संतुलित व बुद्धिशक्ति के निरंतर अभाव में रहकर समाज को श्रीहीन (समृद्धि रहित) बना चुका है। ऐसा आज का समाज आमूलचूल हिंसक समाज बन गया है। वह केवल मानवों के प्रति ही हिंसक नहीं है, वह प्रकृति, जगत, पशु-पक्षी, वृक्ष, धरती व जल तथा वायु के प्रति भी हिंसक व आक्रामक हो गया है, इसे ही वह 'विकास' मान बैठा है। लोभ व स्वार्थ तथा शरीर सुख की उसकी लालसा ने उसकी दृष्टि को भ्रमित कर दिया है।

आज केवल मानव समाज पर ही नहीं, सही में प्रकृति पर भी टिके मानव अस्तित्व को बचाये रखने के लिए कदम दर कदम उठाये जाने वाले उसके आक्रामक और शोषक कृत्यों की दिशा बदलनी ही होगी। मानव के असीम लोभ ने स्वयं उसके जीवन के लिए संकट पैदा कर दिया है। इस संकट से बचाने के लिए धृतिपूर्ण मेधा की जो आवश्यकता है, आक्रामक और शोषण के बदले जिस संवेदनशील सृजनात्मकता की आवश्कयता है, ऐसी अहिंसक शक्ति स्त्री के अंदर है और उसे प्रकट करने का उपयुक्त समय सामने है। उपभोग की अदम्य लालसा की पूर्ति को लक्ष्य बनाकर आज जो तथाकथित सभ्यता मानव समाज पर हावी हो गयी है। उसके खतरे से मानव को आगाह करने का कर्तव्य स्त्री के सामने उसी तरह उपस्थित हुआ है जिस प्रकार एक मां को अपने बच्चो को आग से बचाने व उसे रोकने के लिए तत्परता से दौड़ना पड़ता है।

मानव ने एक उद्दंड बालक की तरह सब अपने लिए लूट लेना चाहा है। उसने धरती का जल लूटा, आकाश की वायु खराब कर दी। प्राणदायिनी मिट्टी को जहरीला बनाया, धरती के गर्भ को लूटकर खोखला बना दिया। हमारे देश में अभी भी क्या नहीं कर रहा है यह उजाड़ू बच्चा? वह अन्नदायिनी कृषि भूमि को औद्योगिक गलियारों में बदलने को उद्यत है। वह नदियों के जल को आम आदमी की विशाल जनसंख्या से छीनकर मुट्ठी भर पूंजीपतियों के कब्जे में दे देना चाहता है। देश की 120 करोड़ जनसंख्या को नकार कर दूर देश के धनवानों के लिए देश के प्राकृतिक संसाधनों को लुटा देना चाहता है। नगरों को यदि स्मार्ट बनाना है तो इस फेर में गांव के संसाधन लेने ही पड़ेंगे। आज तक नगर फैले हैं तो गांव सिकुड़े ही हैं। गांव सिकुड़ेगा तो उसका मानव विवशता में गांव से भागेगा। इसीलिए गांवों से होने वाला पलायन बढ़ते-बढ़ते गांवा को उजाड़ बना चुका है। क्या स्त्री समझदार मां के रूप में इस बिगड़ैल बच्चे के कान प्यार से नहीं उमेठेगी? ताकि वह जिन परिणामों को अपने अंधे उत्साह में नहीं देख पा रहा है, शांतिपूर्वक उसे समझने का प्रयास करे।

मैं मानती हूं कि यह देश गरीब नहीं है। यह देश भयंकर विषमता से ग्रसित देश है। इस देश के हर व्यक्ति की कम से कम एक-सी गुणवत्ता वाली बुनियादी जरूरतों—रोटी, कपड़ा, मकान, शिक्षा व स्वास्थ्य की पूर्ति तो होनी चाहिए। इतना भी न्याय इस देश में न हो और हम चैन से रहें, ऐसी

निर्लज्जता मां तो कभी नहीं बरतेगी। विषमता का हाल यह है कि आज से 50 साल पूर्व सर्वाधिक अमीर 207 लोगों की आय सर्वाधिक कम आय के लोगों से तीस गुना ज्यादा थी। आज वह 72 गुना ज्यादा है। इस चौड़ी और गहरी होती खाई से अपने समाज व सरकारों को खबरदार करने का काम क्षमा यानी संवेदनशीलता व प्रेम की शक्तियों की अधिष्ठात्री स्त्री को ही करना होगा।

आज स्त्री के सामने नारी मुक्ति या पुरुष व नारी के परंपरागत संबंधों की विषमता की कशमकश मात्र में ही सीमित होने का समय नहीं रहा बल्कि विश्व के पूरे परिदृश्य को सामने रखकर अपने देश की पहचान व विशिष्टता को उजागर करने का समय है। इसमें स्त्री अपने प्राकृतिक सकारात्मक मानवीय शक्तियों के द्वारा बहुत महत्त्वपूर्ण भाग अदा कर सकती है। और वह इस प्रकार देश को बचायेगी तो उसका स्थान स्वतः ही ऊपर उठेगा। वह खुद अपने दोयम स्थान से प्रथम स्थान में जाने की जद्दोजहद नहीं करे, वह पुरुषों को अपनी दोयम स्थिति के लिए उलाहना न दे, इसके लिए क्रोध कर करके अपनी प्रेम यानी अहिंसा की संजीवनी शक्ति को व्यर्थ न करे। समग्र समाज जिसमें स्त्री भी है तो पुरुष भी है जिसमें लड़कियां व लड़के भी हैं, सबके बृहत हित के लिए वह अपनी ईश्वर प्रदत्त शक्तियों को उपयोग करेगी तो उसका मान स्वतः ही बढ़ने वाला है। मैंने इसका प्रत्यक्ष दर्शन खीराकोट के समाज में किया था। गांव को खनन से हो रहे विनाश से बचाने में महिलाओं ने नेतृत्व लिया। उन्होंने गांव की खेती बचायी, पानी बचाया और जंगल बचाया, गांव का जीवन ही बचा दिया। तो गांव के पुरुषों ने उन्हें गांव की पंचायत में आदरपूर्वक ऊंचा स्थान दिया था। ऐसा ही अन्य सभी स्तरों पर संभव है।

स्त्री को अपने गुणों की छाप अपने हर कार्य में छोड़ने की जरूरत है। यदि वह उद्योगों से जुड़ती है तो अपनी संवेदनशीलता का प्रभाव डालकर उद्योग जगत को संवेदनशील बनाये। उद्योगपति अपने श्रमिकों, कर्मचारियों व कारकुनों को अपने जैसा मनुष्य समझकर प्रेम करें। उनके दुख को अपना दुख समझें। तब श्रमिकों के शोषण होने का सवाल ही नहीं उठेगा। इसी प्रकार मुनाफे की बेतहाशा दौड़ से पगलाये उद्योग जगत में यह समझ पैदा की जाये कि उद्योग के बाहर फैली मानव बस्ती का जिन्दा रहना स्वयं उनके हित में है। उसी प्रकार उनका उद्योग लंबे समय तक चले इसके लिए जल, जंगल, जमीन व खनिजों का जीवित रहना अनिवार्य है। प्रतिस्पर्धा की रौ में प्रकृति को तहस-नहस न करने की संवेदनापूर्ण समझ स्त्री उनमें पैदा करे।

यदि वह प्रशासक, राजनीतिज्ञ, संस्था संचालक या सांसद, विधायक और प्रधान आदि कुछ भी महत्त्वपूर्ण भूमिका में हैं तो उन संस्थानों को अपने मानवीय गुणों से श्रीयुक्त करे, यह उससे अपेक्षा है। केवल उन पदों में पहुंच जाने मात्र से स्त्री-सशक्तीकरण का सपना साकार नहीं हो जाता। उसके नेतृत्व के अंतर्गत भी यदि भ्रष्टाचार, अन्याय, पक्षपात और भाई भतीजावाद चला जो कि पुरुष प्रधान व्यवस्था के द्वारा पनपाया गया है, तो स्त्री के स्त्री होने का क्या अर्थ रहा? स्त्री उस अर्थव्यवस्था का अंग बन जाये और उसमें अपनी सारी प्रतिभा उड़ेल दे, जिसके बढ़ते कदम घोर विषमता की बुनियाद को और अधिक मजबूत बनाते हों, तो मैं उस स्त्री को स्त्री नहीं मानती क्योंकि उसकी सहानुभूति व सहिष्णुता यानी धृति का गुण जीवित नहीं रहा, अपने छोटे या बड़े किसी भी क्षेत्र को स्त्री अपनी स्त्री नजरों से चयन करे, स्त्री निष्ठा से काम करे व स्त्री के व्यक्तित्व का प्रकाश चारों ओर फैला कर निवृत्त हो। हर स्त्री से यह आशा की जाती है, ऐसी स्त्री ही सशक्त है, जागरूक है और सफल है। स्त्री के सशक्तीकरण के आयामों को इस दिशा में बदलने की जरूरत है। ❑

स्त्री की भूमिका और महत्त्व

❑ **गांधी**

मेरी राय में बुनियादी तौर पर, पुरुष और स्त्री एक हैं, और तत्त्वतः उनकी समस्या भी एक ही है। आत्मा दोनों में एक है। दो प्राण एक जीवन और अनुभूतियां भी समान हैं। एक दूसरे का पूरक है। एक दूसरे के सक्रिय जीवन के बिना जी नहीं सकता।

किसी भी तरह पुरुष युगों से स्त्री को दबा कर रखा है और इसके कारण स्त्री में हीनता का भाव विकसित होता गया है। उसने पुरुष के पक्षपातपूर्ण सिखावन पर विश्वास कर लिया कि वह पुरुष से हीन है। परंतु पुरुषों में जो द्रष्टा रहे उन्होंने स्त्रियों की समान हैसियत को स्वीकार किया है।

यद्यपि इसमें संदेह नहीं है कि कुछ पहलुओं में फर्क है। फिर भी दोनों बुनियादी तौर पर एक है, और यह भी समान रूप से सही है कि दोनों में जीव-संबंधी भेद है। इसलिए दोनों के कर्तव्य भी भिन्न होंगे। स्त्रियां हमेशा बड़ी संख्या में मातृत्व की जिम्मेदारी उठायेंगी जिसकी योग्यता और क्षमता उनके पास है, पुरुष के पास नहीं है। स्त्री दबती है, पुरुष दबाता है। स्त्री अनिवार्य रूप से घर की मालकिन है। पुरुष कमाता है। वह सबके खाने-पीने का प्रबंध करती है। वह हर प्रकार से सबका ख्याल रखती है। बच्चे को जन्म देकर बड़ा करना, नागरिक बनाना उसका

विशेष गुण है। अगर उसका हाथ न हो तो कोई जाति शीघ्र मर जायेगी।

मेरी राय में पुरुष और स्त्री दोनों के लिए पतन का लक्षण है कि उनकी रक्षा के लिए बंदूक का इस्तेमाल किया जाय। यह अंत की शुरुआत है और एक तरह से पशु-युग में वापस जाना है। बड़ा बनने की कोशिश में स्त्री अपने को गिराती है और पुरुष को भी गिराती है। स्त्री अपने स्वाभाविक गुणों को छोड़ दे इसके लिए लालच देने या दबाव डालने का पाप पुरुष को लगेगा। भीतर से पैदा होने वाले खतरों से बचाना उतना ही आवश्यक है जितना बाहरी खतरों से बचाना। मैंने लाखों लोगों को काम करते देखा है और मेरी धारणा बनी है कि जो अंतर किया गया है स्त्री के कामों में वह सही है। महिला बढ़ई और कारीगर नहीं है। लेकिन पुरुष और स्त्री साथ-साथ खेत में काम करते हैं। भारी-से-भारी काम पुरुष करता है। स्त्री घर का काम-काज करती है। दोनों को मिलाकर परिवार का गुजर-बसर होता है, लेकिन मुख्य कमाने वाला पुरुष रहा है। कामों का यह बंटवारा दोनों के गुणों और संस्कृति के अनुरूप है।

मेरी देन यह है कि व्यक्ति और राष्ट्र के जीवन के हर भाग में सत्य और अहिंसा का प्रवेश हो। मैंने यह आशा रखी है कि मानवीय विकास में स्त्री का निर्विवाद नेतृत्व होगा और हीनभावना दूर होगी।

मैंने यह राय प्रकट की है कि अहिंसा की अवतार स्त्री है। अहिंसा का अर्थ ही है अविरल प्रेम, जिसका अर्थ है असीम त्याग की क्षमता। स्त्री के सिवाय दूसरा कौन इस गुण में इससे आगे बढ़ सकता है? इसका दर्शन होता है जब वह नौ महीनों तक बच्चे को गर्भ में पालती है और उसका पोषण करती है। उस दुःख में भी सुख का अनुभव करती है। प्रसव की पीड़ा के मुकाबिले दूसरी कौन पीड़ा हो सकती है? लेकिन नये निर्माण की खुशी में वह इस पीड़ा को भी भूल जाती है। कौन दूसरा इतनी तकलीफ उठायेगा ताकि बच्चा प्रतिदिन विकसित हो सके? स्त्री का प्रेम जो अपने बच्चे तक सीमित है वह पूरी मानव-जाति को प्राप्त हो। उसे भूल जाना चाहिए कि वह कभी पुरुष की 'कामुकता' का विषय थी या कभी हो सकती है। और, उसको गर्व का स्थान मिल सकता है क्योंकि वह मनुष्य की माता है, सृजनकर्ता है, फिर भी पीछे रहती है कभी आगे आने की कोशिश नहीं करती। आदमी जिस अमृत का पान करने के लिए भूखा है वह गुण सहज ही स्त्री को प्राप्त है और वह आपस में लड़ने वाली दुनिया को शांति का पाठ पढ़ा सकती है। सत्याग्रह में वह नेतृत्व कर सकती है जिसके लिए उसे किताबों से सीखने की जरूरत नहीं है बल्कि उसके लिए दृढ़ हृदय चाहिए जो श्रद्धा और त्याग से प्राप्त होता है।

ससून अस्पताल पूना में, जहां मैं बीमार था, मेरी भली नर्स ने मुझे एक औरत की कहानी बतायी जिसने क्लोरोफार्म लेने से इनकार किया था; क्योंकि वह अपने पेट के बच्चे के जीवन को खतरे में नहीं डालना चाहती थी। उसे कष्टदायक ऑपरेशन से गुजरना था। उसके पास एक ही बेहोशी लाने की दवा थी उसके पेट का बच्चा, जिसे बचाने के लिए वह कुछ भी तकलीफ उठाने को तैयार थी।

महिलाओं को जानना चाहिए कि उन महिलाओं की संख्या अधिक नहीं है जो बावजूद कोशिश के पुरुष नहीं हुईं, स्त्री होकर रह गयीं। मुझे ईर्ष्या होती है ऐसी स्त्री से जो प्रतिष्ठा उसको प्राप्त है और इसका उसे भान है। ऐसे बहुत से कारण हैं पुरुष के चाहने के लिए कि वह स्त्री नहीं हुआ, स्त्री के लिए ऐसे कारण नहीं हैं। लेकिन इस प्रकार की इच्छा व्यर्थ है। हम जो कुछ भी हैं उस हैसियत में हम खुश हों और अपना काम करें जो प्रकृति ने हमें सौंपा है।

हरिजन, 24.2.'40, पृ.सं. 13-14

प्रकृति ने एक को दूसरे से भिन्न बनाया है इसलिए उन दोनों की शिक्षा में भिन्नता कायम रखी जाय और वह भिन्नता प्रकट हो। सचमुच दोनों जीवन में समान हैं, परंतु उनके काम अलग-अलग हैं। घर चलाने का अधिकार स्त्री का है। इसके बाहर पुरुष स्वामी है, मालिक है। पुरुष कमाने वाला है, स्त्री बचाती है और खर्च करती है। स्त्री बच्चे के पोषण का ध्यान रखती है। वह उसका भविष्य बनाती है। वह उसके चरित्र का निर्माण करने की जिम्मेदारी संभालती है। वह अपने बच्चों की शिक्षिका है और इस नाते वह पूरे राष्ट्र की माता है। उस अर्थ में पुरुष पिता नहीं है। कुछ समय के बाद पिता का प्रभाव लड़के पर नहीं रहता है लेकिन माता का स्थान कभी खाली नहीं होता। पुत्र बड़ा होने पर भी अपनी मां से चिपकता है जैसे बच्चा करता है। वह अपने पिता के साथ ऐसा नहीं कर सकता है।

अगर प्रकृति की यह योजना है और जैसा कि होना चाहिए, स्त्री को अपने लिए कमायी न करनी पड़े। ऐसी स्थिति की कल्पना की जा सकती है कि वह उसे तारबाबू, टाइपिस्ट या कम्पोजिटर का काम करना पड़े, मैं सोचता हूं वह उचित नहीं है क्योंकि प्रकृति ने उसे जो काम सौंपा है उससे वह अलग हटेगी और इस अर्थ में वह अपनी पूंजी गंवा देगी।

इस तरह एक ओर स्त्री को अज्ञान और दमन में रखना और उसी तरह दूसरी ओर उनके ऊपर उन कार्यों का बोझ डालना जिसे सामान्यतः पुरुष करते हैं, यह गिरावट का लक्षण और उनके प्रति जुल्म है।

The collected works of Mahatma Gandhi, Vol. XIV, p.31

मेरी यह धारणा है कि स्त्री को अहिंसा के मिशन की ऊंचाई और श्रेष्ठता को उसे दिखाना है।...क्योंकि स्त्री अपनी रचना के कारण पुरुष से अधिक सक्षम है अहिंसा की दिशा में बड़ा-से-बड़ा कदम उठाने में... आत्म-त्याग में स्त्री किसी दिन भी पुरुष के आगे है। पुरुष पशु-बल में स्त्री से आगे है।

हरिजन, 5-11-'38, पृ. 317 ❑

शांति सेना का काम महिलाएं उठा लें

❑ विनोबा

आज तक स्त्रियों को सार्वजनिक काम में खींचने की कोशिश हुई है, लेकिन पुरुषों के ढंग से स्त्रियां काम करें ऐसी कोशिश हुई; स्त्रियों के ढंग से नहीं। उनसे कहा गया कि चुनाव में आओ, सेना में आओ। लेकिन इस तरह स्त्री कभी अग्रसर नहीं हो सकती। वह पिछड़ी ही रहेगी। कारण, हिंसा के मार्ग में स्त्रियों के लिए पचासों बाधाएं उपस्थित होती हैं, जो पुरुष के लिए नहीं होती। हिंसा के मार्ग में पुरुष ही आगे जा सकते हैं। लेकिन अहिंसा के मार्ग में स्त्रियां पुरुषों की बराबरी कर सकती हैं, और आगे भी जा सकती हैं।

यह सच है कि शांति की मूर्ति गढ़ी नहीं जा सकती। लेकिन मान लें कि उसे गढ़ना ही हो, तो वह स्त्री की ही मूर्ति हो सकती है। शांति की मूर्ति स्त्री ही हो सकती है, क्योंकि वह मातृस्थान है। वह सारे समाज की तारिणी शक्ति है। जो तारिणी शक्ति हो, वही शांति की मूर्ति हो सकती है। आज सारी दुनिया की स्थिति बड़ी ही भयानक है। इससे बचने का उपाय मुझे एक ही दीख रहा है, और वह है, स्त्री-शक्ति आगे आये और समाज को बचाये। अपने नैतिक बल का उपयोग कर समाज में शांति स्थापित करने की हिम्मत स्त्रियों को करनी चाहिए।

मैं चाहता हूं कि शांति सेना का काम महिलाएं उठा लें। शांति, मुक्ति, भक्ति ये सब शब्द स्त्रीलिंगी ही हैं। मैं कोई अलंकारिक भाषा इस्तेमाल नहीं कर रहा हूं। गीता में भगवान कहते हैं—कीर्तिः श्रीर्वाक्च नारीणां स्मृतिर्मेधा धृतिः क्षमा। स्त्रियों में कीर्ति, वाणी, क्षमा, श्री, मेधा, स्मृति, धृति ये सारे गुण रहते हैं। अहिंसा का शस्त्र, स्त्रियां पुरुषों से ज्यादा अच्छी तरह से इस्तेमाल कर सकती हैं। इसलिए भारत की महिलाएं शांति सेना का कार्य उठायेंगी, ऐसी मैं अपेक्षा रखता हूं।

गांधीजी के जमाने में शराब की दूकानों पर पिकेटिंग करने के लिए किसको भेजा जाये, यह सवाल आया था, तब गांधीजी ने कहा कि बहनों को भेजा जाये। यह विलक्षण जवाब सुनकर लोगों को बहुत आश्चर्य हुआ। लोग कहने लगे कि बदमाशों के अड्डों पर बहनों को कैसे भेजा जाये? बापू ने कहा था कि अंधेरे के सामने प्रकाश जायेगा, तभी काम होगा। बहनें अगर वहां जायेंगी, तो वे लोग शर्मिन्दा हो जायेंगे। लोगों ने यह देखा कि जहां-जहां बहनें गयीं, वहां-वहां अच्छा काम हुआ। यह गांधीजी की सूझ थी। दंगे-फसाद को रोकने का काम बहनें उत्तम तरीके से कर सकती हैं। जहां झगड़े होते हैं वहां शांति की मूर्ति खड़ी हो जाये, तो झगड़ा एकदम बंद हो जायेगा। इसलिए मुझे पूरा विश्वास है कि शांति सेना का काम बहनें बहुत अच्छा कर सकती हैं। शांति की शक्ति बहनों में है।

सामुदायिक भक्ति बढ़ाकर समाज को संभालने की शक्ति स्त्रियों को खुद में लानी चाहिए। अगर कहीं दंगा हुआ, और चार-पांच महिलाएं भजन गाते हुए उसके बीच में खड़ी हो जायें, तो दंगा अवश्य रुक जायेगा। किसी होश-हवास खोये आदमी ने सर पर लाठी मार दी, तो जो खून बहेगा, उससे भी दंगा रुक जायेगा। इस प्रकार शांति-स्थापना करने की हिम्मत स्त्रियों में आनी चाहिए।

विनोबा साहित्य, खंड-16, पृ. 338

''हमारी संस्कृति ने स्त्रियों से बहुत अपेक्षा रखी है। बहनें अगर अहिंसा के संदेश को उठा लेती हैं, तो दुनिया की रक्षा होगी। अहिंसा को स्वीकार करना उनके लिए पुरुषों की अपेक्षा ज्यादा सरल है, ऐसा माना जाता है। भावी युग में समाज का नियंत्रण करने का काम बहनों के पास आने वाला है। उसकी तैयारी उन्हें अपनी सेवा-वृत्ति के द्वारा करनी है।''

विनोबा साहित्य, खंड-17, पृ. 238

महिला शांतिसेना में 'सेना' शब्द क्यों?

कुछ लोग कहते हैं कि महिला शांतिसेना का 'सेना' शब्द अच्छा नहीं लगता है, खटकता है। क्या शांतिसेना के स्थान पर शांति-सभा, शांति-समिति आदि नाम नहीं दिया जा सकता? यह प्रश्न असम में पूछा गया; जम्मू में पूछा गया और अन्य जगहों में भी पूछा जाता है। इसका उत्तर क्या हो सकता है? विनोबा से भी शांतिसेना के संदर्भ में ऐसा प्रश्न पूछा गया था। जवाब निम्न अनुसार है :

''कुछ लोगों को 'सेना' शब्द अखरता है। उसमें उन्हें हिंसा की गंध आती है। लेकिन इसके पीछे 'सेना' शब्द के बारे में अज्ञान है। 'सेना' शब्द वेद में आता है—'असेन्या वः पणयो वचांसि'—हे कृपणो, तुम्हारा बोलना असैन्य है, सेना-रहित है। यानी तुम्हारी वाणी में ताकत नहीं है, या बोलने में संगति नहीं है। सेना शब्द का अर्थ है, मर-मिटने की तैयारी से इकट्ठे हुए लोग, जिनमें संगति होती है। वेदों में 'सेना' शब्द तीन बार आया है। इसके अलावा इन्द्रसेना, वृत्रसेना, चित्रसेना आदि शब्द आते हैं। वह बहुत ही पावन शब्द है। ऐसे वेदपूत शब्द को छोड़ना ठीक नहीं होगा। ऐसा आक्रमणकारी होती है, वह चुप नहीं बैठती। उसमें गति है, प्रगति है। इसलिए 'सेना' शब्द की झिझक बिल्कुल न रखें।

'सेना' शब्द जो मूल संस्कृत में है वह खराब नहीं है। उसके माने है 'बंधन'। एक साथ बंधे हुए लोग हों, तो उसे सेना कहते हैं। इसलिए शब्द से घबराने की आवश्यकता नहीं है। नाम 'शांतिसेना' ही अच्छा है। सेना शब्द में जो गुण हैं, उन्हें हम चाहते हैं, और उसके दोषों के विरुद्ध हमारा शांति शब्द रहेगा। इस तरह दोनों शब्द मिलकर समाज के सामने एक परिशुद्ध विचार आ जायेगा। शब्द-शक्ति की एक मर्यादा होती है। इसलिए भाषा में कुछ-न-कुछ कमी रह ही जाती है।

विनोबा साहित्य, खंड-16, पृ. 313 ❑

बिन आपा चिन्हे

पिता का पत्र पुत्री के नाम

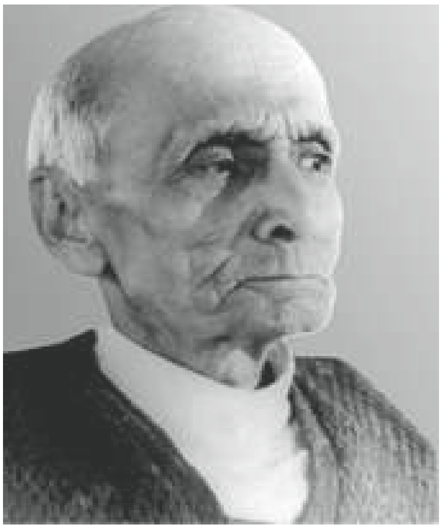

''आजकल हमलोग विभिन्न विद्यालयों एवं विद्यापीठों द्वारा स्त्री-शिक्षा का जो उपक्रम कर रहे हैं, वह एक युग-प्रवर्तक कार्य है। प्राचीन वाङ्मय में इसका ऐसा कोई संकेत नहीं मिलता। शिक्षण कार्य के लिए स्त्री माता के नाते पुरुष की अपेक्षा हजारगुना श्रेष्ठ मानी गयी है। मनु ने एक जगह कहा है कि 'दस उपाध्यायों की अपेक्षा आचार्य श्रेष्ठ है। सौ आचार्यों की अपेक्षा पिता श्रेष्ठ है और माता हजार पिताओं की अपेक्षा (गुरु के नाते) श्रेष्ठ है।' किन्तु प्रत्यक्ष जीवन में इस बात का प्रमाण या कोई चिह्न न मनु के युग में और न बाद के युग में दिखायी पड़ता है। स्मृतियों में भी इनका चिह्न या सूचक संकेत नहीं दिखता। स्मृतियों में एकाध वचन हों, तो उसका संकेत श्रुतियों में कहीं-न-कहीं दिखायी पड़ ही सकता है। मनु के युग में एक भी स्त्री आचार्य दिखायी नहीं पड़ती। अवश्य उससे पहले श्रुतियों में गार्गी, मैत्रेयी जैसे उदाहरण दिखायी पड़ते हैं, फिर भी स्त्री के आचार्य होने का उल्लेख कहीं भी नहीं मिलता। जब स्त्रियों के लिए गुरुकुल ही नहीं थे, तो स्त्री आचार्या कैसे होती?''

चि. कालिन्दी, *नागपुर : 14.8.'72*

अनेक उत्तम आशीर्वाद!

उस दिन पवनार में तुमने बहुत आग्रह किया; बालहठ से जान बचाना यों ही मुश्किल होता है, फिर यह तो बालिक हठ था। उसके आक्रमण से परास्त हो गया। इसलिए यह पत्र लिख रहा हूं। मैं अपनी भूमिका तुम्हें समझा नहीं सका। अब तक जीवन में आत्ममर्यादा और लोकमर्यादा का यथासंभव पालन किया है। किसी समय बहुत पान-सुपारी खाता; लेकिन पिताजी के सामने या उनके साथ प्रायः कभी नहीं खाता था। उसी प्रकार संस्थाओं की मर्यादा का भी ध्यान अब तक रखता आया हूं। कण्व के आश्रम में ब्रह्मचारियों ने दुष्यन्त को आश्रम के प्रक्षेत्र में हिरन का आखेट करने से रोका। वह आश्रम की मर्यादा थी। मैं अपनी सीमाओं को और संस्थाओं की मर्यादाओं को जानता हूं। सहसा उनका अतिक्रमण नहीं करता। 'मैत्री' मासिक पत्रिका की भी एक मर्यादा और प्रतिष्ठा है। उसने पत्रकारिता-जगत में कुछ प्रतिमान और निकष उपस्थित किये हैं। उसका अपना एक रुख है। और एक विशिष्ट भूमिका भी। इसलिए मैंने उसकी मर्यादा का पालन करना अपना धर्म समझा। परंतु तुम जैसी पुत्रियों का जो निर्व्याज स्नेह है, उससे अभिभूत हूं। मैं भी तुम सबको बहुत प्यार करता हूं। शब्दों से परे। इसलिए लिख रहा हूं।

पिछले पचास वर्षों से स्त्री-पुरुष-संबंध में स्त्री की गौण भूमिका देखकर मैं सदैव व्यथित होता रहा हूं। ज्यों-ज्यों स्त्री स्वतंत्र होती गयी, मेरी आशाएं भी बढ़ने लगीं। लेकिन आशा के साथ चिन्ता भी बढ़ी और अब तो मैं बहुत बेचैन हूं। स्त्री-पुरुष के मुक्त प्रेम और मुक्त संबंध के वर्णन पढ़ता हूं; प्रसंग भी देखता हूं। लेकिन एक प्रश्न, जो मेरे मन को निरंतर सताता रहा है, वह ज्यों-का-त्यों अनुत्तरित है। वह प्रश्न है स्त्री के ब्रह्मचर्य का। पुरुष का ब्रह्मचर्य जितना स्वायत्त है, उतना ही स्वाधीन भी है। अर्थात उसकी इच्छा या सम्मति के बिना उसका ब्रह्मचर्य-भंग नहीं हो सकता। स्त्री की स्थिति ऐसी नहीं है। उसका ब्रह्मचर्य स्वायत्त हो सकता है, लेकिन उसकी इच्छा या सम्मति के बिना उसका कौमार्य-भंग हो सकता है। उसकी स्थिति में यह दोष प्राकृतिक है। भगवान ने ही मानो उसे इस दुर्बलता के साथ पैदा किया है। मैं साथ-साथ यह भी मानता और देखता हूं कि मनुष्य निसर्गानुगामी नहीं है। वह प्रकृति का दास बनकर नहीं रहता। हमेशा प्राकृतिक त्रुटियों की पूर्ति और दोषों के निराकरण में सचेष्ट रहता है। बल्कि यों कह लीजिये कि इसी में उसका सत्त्व निहित है; यही उसका पुरुषार्थ है। मैं मानवार्थ कहूंगा; क्योंकि पुरुष शब्द में स्त्री का समावेश नहीं होता।

कामप्रेरणा पुरुष और स्त्री दोनों में है। भिन्न मात्रा में हो सकती है, लेकिन दोनों के लिए वह प्रेरणा सामान्य है। पुरुष उसका संयम करके ब्रह्मचर्य का अनुष्ठान करता है; यथार्थ ब्रह्मचर्य में स्त्री के लिए तिरस्कार या जुगुप्सा नहीं है। और न उसके प्रति भय या आशंका की ही भावना हो सकती है। लेकिन, स्त्री की नैसर्गिक मर्यादा के ध्यान से शायद उसके लिए ब्रह्मचर्य अनुपयुक्त और असंभव माना गया। जहां पुरुष के लिए ब्रह्मचर्य श्रेयस्कर माना गया, वहां स्त्री के लिए मातृत्व ही उत्कृष्ट माना गया। फलतः मातृत्व की आकांक्षा स्त्री के स्वभाव का विशिष्ट लक्षण माना गया, स्त्री में मातृत्व की आकांक्षा की प्रशंसा हो और पुरुष में नैष्ठिक ब्रह्मचर्य ही चारित्र्य का गौरीशंकर माना जाय, इस विसंगति को मैं अब तक समझने में असमर्थ रहा हूं। इसी के फलस्वरूप दोनों की कामप्रेरणा के विषय में भी भिन्न-भिन्न मानदंड समाज में प्रचलित हुए। कामसंबंध ही अधम और पापमय माना जाने लगा। लेकिन उस संबंध के बिना मातृत्व तो असंभव है। और मातृत्व की आकांक्षा का संस्कार गहरा पैठता

चला गया। मातृत्व की आकांक्षा का विवाह की आकांक्षा में परिणत होना क्रमप्राप्त ही थी। पुरुष की ब्रह्मचर्यनिष्ठा ने स्त्री से सतर्क और सावधान रहने का संस्कार दृढ़ किया। और स्त्री की नैसर्गिक असमर्थता के कारण हर स्त्री के चित्त में हर पुरुष की तरफ से भय और आशंका का संस्कार बद्धमूल हो गया। प्रश्न यह है कि क्या ऐसी परिस्थिति में स्त्री का ब्रह्मचर्य स्वाधीन रह सकता है? क्या समाज में ऐसी परिस्थिति उपस्थित करना संभव है, जिसमें स्त्री का ब्रह्मचर्य उसकी सम्मति के बिना भंग नहीं हो सकेगा? मेरी नाकिस समझ में स्त्री के जीवन की यह अंतिम और निर्णायक समस्या है।

यदि यह माना जाता है कि स्त्री की नैसर्गिक असमर्थता अनिराकरणीय है तो उसकी पुरुष निर्भरता भी अनिवार्य ही मानी जानी चाहिए। तब तो उसका धर्म ब्रह्मचर्य नहीं, पातिव्रत्य ही माना जायेगा। और उस स्थिति में दोनों के लिए नैतिकता के भिन्न-भिन्न पैमाने ही प्रशस्त समझे जायेंगे।

यह प्रश्न है, जो मेरी बुद्धि को कुंठित करता रहा है। मेरा मन यह मानने को तैयार नहीं होता कि इसमें कोई रास्ता नहीं है। मैं यह देखता हूं कि स्त्री भी भीरुता पुरुष की आक्रमणशीलता के रूप में परिवर्तित होती है। और जब तक स्त्री के लिए पुरुष के भय से छुटकारा नहीं है, तब तक उसकी मानवता भी गौण ही रहेगी। अतएव मेरी आत्मा इस उलझन में से रास्ता खोजने के लिए छटपटाती है। योरप, अमरीका और भारत के आधुनिक तरुण-तरुणियों में मुक्त काम मैं देखता हूं। लेकिन वहां भी मेरे प्रश्न का जवाब मुझे नहीं मिलता। जो तरुणी अपने शरीर का उपयोग न होने देना चाहे, इसके लिए कौन-सा स्वायत्त उपाय है? जब तक इसका उत्तर नहीं मिलता तब तक मुक्त काम में भी स्त्री पुरुषरक्षित ही रहेगी। उसकी स्वतंत्रता पुरुष की कृपाशीलता पर ही निर्भर रहेगी।

मुझे ऐसा मालूम होता है कि इसमें से एक ही मार्ग हो सकता है। वह यह कि स्त्री अपने में शारीरिक शक्ति की जगह किसी ऐसी शक्ति का विकास करे, जिसके सामने शारीरिक शक्ति कुण्ठित हो जाय और अपने-आप को असमर्थ अनुभव करे। मैं इसे चारित्र्य की शक्ति कहता हूं। प्रतिकूल परिस्थितियों में अपने सत्त्व को संभालने की शक्ति का नाम चारित्र्य की शक्ति है। शारीरिक दुर्बलता के निरंतर बोध ने स्त्री को रूपनिष्ठ बना दिया है। पुरुष की अपेक्षा वह कहीं अधिक रूपनिष्ठ और देहात्मवादी बन गयी है। इस संस्कार से ऊपर उठने के लिए यह आवश्यक नहीं है कि वह अपने शरीर को असुन्दर या अनाकर्षक बनाये। यह तो औंधी पुरुषनिष्ठा होगी। अपने को पुरुष के आकर्षण से बचाने के लिए वह इस मार्ग का अवलंबन करेगी, इससे तो उसकी सत्त्वहानि ही होगी। सौंदर्य ईश्वर की विभूति है। सौंदर्य और शृंगार एक नहीं है। मुझे कृष्णमूर्ति के शब्द याद आते हैं, ''ब्यूटी इज ऑस्टीअर''। सुंदरता में प्रसाधन नहीं सहज शोभनीय होती है; परंतु मुझे तो शृंगार में भी आपत्ति नहीं है। मेरी मांग इतनी ही है कि स्त्री का ब्रह्मचर्य और मातृत्व दोनों स्वायत्त और स्वाधीन हों इसके लिए उसे जिस चारित्र्य की आवश्यकता होगी, वह आज की साधारण नैतिकता से अधिक उदात्त और उन्नत होगा? उस चारित्र्य का अधिष्ठान क्या होगा? यह गवेषणा का विषय है।

मैं इस परिणाम पर पहुंचा हूं कि नियति ने और ईश्वर ने स्त्री के व्यक्तित्व में ताला लगाकर उसकी चाबी चुपचाप स्त्री के ही अंचल में बांध दी है। स्त्री खोयी-खोयी सी दुनियाभदर उस चाबी को खोज रही है। सब जगह सिवा अपनी अंतरात्मा के। तुम स्त्री-जीवन में ब्रह्मविद्या के आविष्कार के युगांतरकारी पराक्रम में व्यस्त हो, इसलिए तुम्हारे सामने हाथ जोड़कर यह समस्या लेकर उपस्थित हुआ हूं। इस समस्या का समाधान यदि तुम खोज सको तो बंगला देश की स्त्रियों पर जो बीती, उसकी पुनरावृत्ति इतिहास में नहीं होगी। अन्यथा मातृत्व भी अभिशाप सिद्ध होगा। फिर तो मानवता का क्या होगा, भगवान जाने!...

स्नेहाधीन

दादा धर्माधिकारी

शख्सियत

सेवा की मूर्ति मीरा बहन

इंग्लैंड के अति संभ्रांत व सम्पन्न परिवार में 22 नवंबर 1892 को जिस मेडेलीन स्लेड का जन्म हुआ, उसे बापू ने 1925 में मीरा बहन बना दिया। पिता सर एडमंड स्लेड नौसेना के उच्चाधिकारी थे। बाद में वे कमांडर-इन-चीफ भी बनाये गये। जब बच्चे खिलौनों से खेलते हैं, मेडेलीन उनसे विरक्त रहती थी। आडंबर उसे नहीं भाता था। अपनी आत्मकथा में वे लिखती हैं—''पांच साल की उम्र से ही कभी किसी पंछी की आवाज या पेड़ों की सरसराहट मुझे कहीं दूर ले जाती थी। मैं किसी 'अज्ञात प्रेरणा' के वशीभूत उस छुपे सत्य को खोजने घोड़े की पीठ पर बैठ, अपने नाना के गांव वाले विशाल घर से खेतों, जंगलों, नदियों और सागर के आसपास जाकर प्रकृति से अपना नाता जोड़ा करती थी। मुझे उस 'अज्ञात' में भय के बजाय अपार आनंद का अनुभव होता!''

मेडेलीन अपने पिता के साथ 1908 में 15 साल की उम्र में भारत आयी। दो

साल रह कर वापस चली गयीं। 1920 में युवा मेडेलीन उसी 'अज्ञात' की खोज में पश्चिम के महान संगीतकार बीथोवन से जा जुड़ीं। बीथोवन ने सूरदास की ही तरह अपने समस्त चिंतन को संगीत में ढालकर आमजन के लिए सुबोध बना लिया था। मेडेलीन बीथोवन की ऐसी दीवानी हुईं कि प्रथम विश्वयुद्ध के दरम्यान जब जर्मनी इंग्लैंड का परम शत्रु बना हुआ था, मेडेलीन इंग्लैंड में बीथोवन के संगीत समारोहों का आयोजन कर रही थीं। वे किसी 'अज्ञात प्रेरणा' से बंधी जर्मनी के बॉन में स्थित उनके घर तक जा पहुंची थीं, जहां बीथोवन का जन्म हुआ था और जहां बीथोवन की समाधि है। वे लिखती हैं कि बीथोवन की कब्र पर पहुंच मैं सुध-बुध भूल गयी और मुझे लगा कि कोई 'अज्ञात ताकत' मुझे बुला रही है। ऐसी ही अवस्था में 1923 में मेडेलीन की मुलाकात फ्रांस के महान दार्शनिक और साहित्यकार रोमां रोला से हुई। रोला ने मेडेलीन को न सिर्फ बीथोवन के संगीत की गहराइयों से वाकिफ कराया बल्कि महात्मा गांधी नामक उस शख्सियत से भी परिचित कराया, जिसे उन्होंने तब तक न देखा था, न सुना था लेकिन जिसे वे ईसा मसीह का अवतार-सा मानते थे। मेडेलीन को लगा कि शायद यह वही 'अज्ञात' है जिसका उन्हें इंतजार है।

1925 में वह 'अज्ञात' मेडेलीन को भारत खींच लाया—गांधी के पास! पश्चिम की मेडेलीन स्लेड पूरब की 'मीरा बहन' बनकर जिस तरह गांधीमय हो गयीं, वैसी दूसरी मिसाल नहीं मिलती है। साबरमती आश्रम के नियमों का वे सैनिक अनुशासन से पालन करने लगीं। स्वावलंबन का जो पहला पाठ उन्होंने बापू से सीखा था वह उनका जीवनाधार बन गया। वे न केवल खान-पान, रहन-सहन और वेश-भूषा से हिन्दुस्तानी बन गयीं, उन्होंने सेवा और ब्रह्मचर्य का व्रत भी ले लिया।

1932-33 में आजादी की लड़ाई चरम पर थी। सरकारी दमन पराकाष्ठा पर था। कांग्रेस को गैरकानूनी घोषित कर, बापू को गिरफ्तार कर लिया गया था। समाचार पत्रों पर सेंसर लगा था। मीरा बहन अन्याय व दमन की इन खबरों की साप्ताहिक जानकारी दुनिया भर में भेजने लगीं। जैसे ही खुफिया तंत्र को यह पता चला, उसने मीरा बहन को तीन माह के लिए जेल भेज दिया। जेल से छूटते ही वे फिर बंबई लौटीं और अपना काम करने लगीं। इस बार उनको एक साल की जेल मिली। 1942 में भारत छोड़ो आंदोलन के दौरान वे तीसरी बार जेल गयीं। बापू के कई ऐतिहासिक पत्रों व बयानों की वे विश्वसनीय वाहिका बनीं।

भारत छोड़ो आंदोलन की घोषणा के साथ ही बापू समेत सारे बड़े नेताओं की गिरफ्तारी हुई। बापू पुणे के आगा खान महल में कैद रखे गये। मीरा बहन भी उनके साथ थीं। 1944 में वे भी बापू के साथ ही छूटीं। जेल से छूटने के बाद मीरा बहन ने बापू से इजाजत मांगी कि वे उत्तर भारत में कहीं रहकर स्वतंत्र रूप से काम करना चाहती हैं। बापू की इजाजत मिली और वे अपनी जगह खोजने निकलीं। वे ऐसी जगह चाहती थीं, जो हिमालय से दूर न हो, जहां खेती, पशुपालन और कताई-बुनाई करना संभव हो। काफी खोजबीन के बाद मुलदासपुर के प्रमुख श्री अमीर सिंह ने रूढ़की और हरिद्वार के बीच 10 एकड़ जमीन, अंग्रेजों की टेढ़ी नजर से डरे बगैर उन्हें दान में दे दी। मीरा बहन ने यहां अपना 'किसान आश्रम' शुरू किया। बिचपुरी गांव पथरी राव नदी की गाद से परेशान था। पहला काम उससे मुक्त करने का हुआ। 1945-46 में उत्तर प्रदेश के 'अधिक अन्न उपजाओ कार्यक्रम' में सरकार ने उन्हें अपना अवैतनिक सलाहकार नियुक्त किया। वे हिमालय के बीच कहीं पशु, मानव और प्रकृति के तालमेल से एक ऐसा स्थान बनाना चाहती थीं, जहां बापू की कल्पना को मूर्त रूप दिया जा सके। 1948 में वन विभाग ने उन्हें ऋषिकेश में 2146 एकड़ जमीन लीज पर दी। यहां उन्होंने 'पशुलोक आश्रम' बनाया। उनके इस आश्रम में पंडित नेहरू सरीखी हस्तियां उनसे मिलने आती रहती थीं।

इस सारी भाग-दौड़ का असर स्वास्थ्य पर हुआ और उन्हें टिहरी के प्रतापनगर में आराम के लिए रुकना पड़ा। वे राजा के महल में मेहमान रहीं। 15 अगस्त 1947 को देश की आजादी के जश्न से बापू भी दूर थे और मीरा बहन भी। आजादी के साथ ही देश में मची भयंकर मार-काट से वे बहुत व्यथित थीं और महाराजा के महल से निकलकर बापू के 'महल' पहुंचीं।

नोआखली से लौटकर बापू बिड़ला भवन में रह रहे थे। बापू के साथ कुछ दिन रहकर और उनकी व्यथा देख-समझकर वे 18 दिसंबर 1947 को 'पशुलोक' वापस लौटीं। और वहीं 30 जनवरी 1948 को बापू की हत्या की खबर उन्हें मिली—''मैं स्तब्ध रह गयी और किंकर्तव्यविमूढ़!'' उन्होंने दिल्ली जाने के बजाय अपनी कुटिया में ही रहने का निश्चय किया। दिल्ली से निकलते वक्त बापू के कहे शब्द उन्हें याद आ रहे थे : ''मेरी चिन्ता न करना। ईश्वर पर भरोसा रखना। वही मुझे बनायेगा या बिगाड़ेगा। वही तो सब कुछ बनाता है!'' और फिर उनको लगा जैसे बापू कह रहे हों—'ईश्वर पर भरोसा रखो और जहां हो वहीं रहो। आखिरी दर्शन का कोई अर्थ नहीं है। वह आत्मा, जिससे तुमको प्रेम है, वह सदा तुम्हारे साथ है'। मीरा बहन दिल्ली नहीं गयीं। वे दिल्ली पहुंचीं फरवरी 1948 में और उस जगह पर गयीं, जहां गोली लगने के बाद बापू गिरे थे। फिर वे राजघाट समाधि पर गयीं और फिर अपने 'पशुलोक' लौट आयीं। उन्होंने लिखा : ''दिल्ली इस बार मुझे मुर्दों का शहर लगा। पंडित नेहरू पीले और निस्तेज थे, सरदार पटेल मौन! सब जगह निराशा, निःशब्द शून्यता पसरी पड़ी थी।''

अब 'पशुलोक' के प्रति सरकारी अधिकारियों का रवैया बदलने लगा था। मीरा बहन ने 'पशुलोक सेवा मंडल' नामक एक दूसरी संस्था भी बनायी लेकिन अपेक्षित सरकारी सहायता नहीं मिली। परेशान होकर उन्होंने सरकार को जमीन वापस कर दी। वे अब ऐसी जगह चाहती थीं जहां गांव और पशुओं की सेवा वे अपने ढंग से कर सकें। इस खोज में उन्होंने हिमालय में 200 मील यात्रा की और अंततः पहुंचीं टिहरी से 28 मील दूर, भिलंगना नदी के ऊपर, चीड़ व देवदार के जंगल में बसी गेंवली! वन विभाग ने उनको दो नाली जगह लीज पर दी। यहां बना उनका 'गोपाल आश्रम'। तब देश में सामुदायिक ग्रामीण विकास योजना चलायी जा रही थी। उन्होंने नेहरूजी से विचार-विमर्श कर, भिलंगना घाटी में काम की योजना बनायी। उन्होंने 'बापू राज' नाम से अपनी पत्रिका मई 1952 में शुरू की। लेकिन न 'गोपाल आश्रम' और न 'बापू राज' उस तरह चल सकी, जैसा वे चाहती थीं और न नौकरशाही के साथ उनका तालमेल बैठ सका। सब कुछ बंद करना पड़ा और 1954-56 के बीच वे कश्मीर चली गयीं और कश्मीर के मुख्यमंत्री बख्शी गुलाम मुहम्मद के अनुरोध पर 'कंगन' नामक देवदार के सुंदर जंगल में रहीं। इस जगह का नाम उन्होंने 'गऊबल' रखा। वे चाहती थीं कि यहां विदेशी नस्ल की गायों को पाला जाये। लेकिन सरकारी नीति विदेशी गायों को प्रोत्साहित करने की नहीं थी। अतः इंग्लैंड की 'डेक्स्टर' नस्ल की गायों को हिमाचल भेजकर उन्हें अपना यह प्रयोग बंद करना पड़ा। वे लिखती हैं : ''अब मैं यहां क्या करूं?...किसान आश्रम, पशुलोक आश्रम, गोपाल आश्रम और गऊबल सब मेरे जीवन से सपनों की तरह निकल गये। अब सरकारी मदद से कोई योजना नहीं बनेगी...'' वे व्यथित भी थीं और हताश भी! जिस उत्साह से भरकर वे हिमालय आयी थीं, वह समाप्त हुआ जा रहा था। कभी धनाभाव, कभी कार्यकर्ताओं की कमी और कभी सरकारी तंत्र की घुसपैठ उन्हें परेशान करती रही और उन्हें काम बंद करना पड़ा।

तीन साल कश्मीर में रहने के बाद मीरा बहन 1957 में टिहरी गढ़वाल लौटीं। इस बार चंबा के ऊपर रानीचौरी के पास मेलधार आकर रहीं। अब बनाया 'पक्षी कुंज'। उनके व्यक्तित्व की संपूर्णता, उनका अदम्य साहस, ज्ञान और बापू में अटूट विश्वास उन्हें बार-बार प्रयोग के लिए उकसाता था। वे आजाद भारत के साथ आने वाली नयी समस्याओं को और विकास व आधुनिकता के नाम पर आ रही प्रतिकूलताओं को समझ पा रही थीं। इन सबको समेटकर वे लगातार लिखने में जुट गयीं। जंगलों की अंधाधुंध कटाई से होने वाले नुकसान, हिमालय में बांज के पेड़ों के कम होते जाने के दुष्परिणाम, रासायनिक खेती के मुकाबले जैविक खेती की वैज्ञानिकता, गौ-पालन की जरूरत, पश्चिमी सभ्यता की अविवेकी नकल, अपनी संस्कृति और भाषा के प्रति उदासीनता, कुटीर और ग्रामोद्योग की उपेक्षा जैसे विषयों पर उनके तर्कसंगत, स्पष्ट विचार लगातार हमें सावधान करते रहे। वे अब बड़ी शिद्दत से कहने लगी थीं कि वे विश्व नागरिक की भूमिका में ही रहती व सोचती हैं। वे अपने को खरा भारतीय मानती थीं और भारतीयता से उनका मतलब उस सनातन परंपरा से होता था, जो पूरी दुनिया को एक परिवार मानती है, न कि एक बाजार।

मीरा बहन बापू की बेटी की तरह थीं। उनका सारा जीवन बापूमय था और बापू के लोग ही उनके अपने संगी-साथी थे। डॉ. सुशीला नैयर उनके सबसे निकट थीं, जिनके साथ वे जेल में भी रही थीं। महादेव देसाई ने लिखा है : ''लंदन में राजसी ठाट में पली यह युवती गांधीजी के प्रति जिस निष्ठा और समर्पण से अपना जीवन बदलने में सफल रही, वैसा दूसरा उदाहरण नहीं मिलता है। उन्होंने भारतीय गांवों में लंबे समय तक मानव मल की प्रत्यक्ष सफाई ही नहीं की बल्कि नया आदमी बनाने के काम में भी जुटी रहीं। वे बहुत ही सौम्य और शालीन थीं और बेहद निडर थीं। शराबबंदी के अभियान में शराबी जब उनके साथ बुरा बरताव करते थे तब उनकी शालीनता और दृढ़ता देखते बनती थी। बारिश के दिनों में भी वे टूटी-फूटी झोपड़ी में शांति से रहती थीं। वे अपना डेरा-डंडा संभाल कर सतत चलती रहने वाली किसी ध्यानमग्न साधिका-सी लगती थीं।''

1925 से 1944 तक, लगातार 20 साल वे बापू के साथ साबरमती और सेवाग्राम आश्रमों में रहीं। 1945 से 1958 तक 14 साल वे उत्तर भारत के हिमालय के इलाकों में रहीं। 1959 से 1982 के बीच के 23 साल वे ऑस्ट्रिया व पश्चिम में रहीं। 1956 में कश्मीर से लौटकर वे फिर से टिहरी गढ़वाल आ गयीं। यहीं बीथोवन और रोमां रोला की पुरानी यादों ने उनको इस तरह झकझोर कर बुलाया कि उन्होंने हमेशा-हमेशा के लिए भारत छोड़ने का मन बना लिया था। 1958 के अप्रैल में कृष्णमूर्ति गुप्ता को लिखा उन्होंने कि ''मुझे एक 'अनजानी ताकत' फिर से बुला रही है। मैं इसकी अनसुनी नहीं कर सकती...शायद आज के भारत से ज्यादा बापू के विचारों की जरूरत पश्चिम में है।'' 28 जनवरी 1959 को भारत छोड़ने से पहले वे कुछ दिन राष्ट्रपति भवन में डॉ. राजेन्द्र प्रसाद के साथ रहीं और फिर इंग्लैंड होती हुई वियना चली गयीं। जंगलों के निकट, बिलकुल शांत-एकांत, प्राकृतिक सौंदर्य से भरी वह सुंदर-सी जगह आखिरी दिनों तक उनका ठिकाना बनी रही।

अपनी जीवनी में उन्होंने लिखा है : ''मेरे लिए ईश्वर और बापू दो ही थे! अब वे दोनों एक हो गये हैं। मैं अपने अतीत पर विचार करती हूं तो पाती हूं कि मैं बापू को अपना 'पूरा' नहीं दे सकी, क्योंकि कुछ→

बढ़ती आत्म-निर्भरता से ही बचेंगे गांव

❑ भारत डोगरा

विश्व के अति गंभीर हो चले पर्यावरणीय संकट के समाधान के लिए ग्रामीण सभ्यता को बचाना आवश्यक है। यह पर्यावरणीय संकट ग्रामीण सभ्यता की रक्षा के बिना हल नहीं हो सकता है, और भारत जैसे अभी तक ग्राम-प्रधान बने हुए बड़े देश की इस प्रयास में महत्त्वपूर्ण भूमिका रहेगी कि एक ग्रामीण सभ्यता के माध्यम से पर्यावरण के गंभीर संकट का समाधान प्राप्त किया जाये। गांवों और गांव समुदाय के सिमटते पैटर्न के प्रति आगाह करता प्रस्तुत आलेख। –सं.

करोड़ों गांववासियों की आजीविका की रक्षा एक गांववासियों की बुनियादी जरूरतों को पूरा करने के लिए ग्रामीण संकट का समाधान करना जरूरी है। आज गांवों का संकट लगभग पूरी दुनिया में मौजूद है, पर इसके रूप अलग-अलग हैं। संयुक्त राज्य अमेरिका जैसे अन्य विकसित देशों में यह इस रूप में प्रकट हुआ है कि अपेक्षाकृत छोटे किसान और खेत लुप्त होते जा रहे हैं व बड़ी कंपनियों के हाथों में अधिक भूमि केन्द्रित हो रही है। कनाड़ा में वर्ष 1941 में जितने किसान थे, 55 वर्ष बाद 1996 में उनमें से मात्र एक चौथाई ही बचे हैं। आज भी किसानों की संख्या कम होती जा रही है।

अमेरिका में वर्ष 1935 में 68 लाख किसान थे, जबकि आज मात्र 19 लाख किसान बचे हैं। रीगन के राष्ट्रपतिकाल में अनुमान लगाया गया था कि हर आठ मिनट में एक किसान अपनी खेती-किसानी का पैतृक व्यवसाय छोड़ने को मजबूर हो रहा था। आज अमेरिका में 0.1 प्रतिशत जनसंख्या के हाथ में लगभग 50 प्रतिशत कृषि भूमि है। इसमें से बहुत-सी भूमि विशालकाय कंपनियों के हाथ में है। दूसरे शब्दों में भूमि स्वामित्व का केन्द्रीकरण हो गया है व लाखों साधारण किसान परिवार अपनी आजीविका गवां बैठे हैं। यूरोप के छह देश सबसे पहले यूरोप की सामान्य आर्थिक नीति के अंतर्गत संगठित हुए थे। वर्ष 1957 में यहां 220 लाख किसान थे जबकि वर्ष 2003 तक यहां किसानों की संख्या सिमटकर 70 लाख रह गयी थी। ब्रिटेन में वर्ष 1953 में 454000 किसान थे जबकि वर्ष 1981 में उनकी संख्या 242300 रह गयी।

दूसरी ओर कई विकासशील देशों में, विशेषकर लेटिन अमेरिकी देशों में यह ग्रामीण संकट इस रूप में प्रकट हुआ है कि गांवों की आबादी बहुत सिमट गयी है। ये देश मुख्य रूप से शहरी आबादी के देश बन गये हैं। इनमें से कुछ देशों में शहरी जनसंख्या का प्रतिशत कुछ विकसित/औद्योगिक देशों से भी आगे पहुंच गया है।

→था कि जो मेरे अंदर दबा था और मुझे बोझिल किये रहता था। बापू ने बार-बार मुझे इसकी चेतावनी दी थी। बापू के जाने के बाद 'पक्षी कुंज' में बीथोवन और रोमां रोला की यादों ने मुझे बेचैन कर दिया था। मैं फिर से रोमां रोला की दी बीथोवन की पुस्तकें पढ़ने लगी। इससे मुझे नई दिशा का भान हुआ।...कोई चीज मेरे अंदर आंदोलित हो रही थी—कोई बुनियादी चीज! मैंने आंखें बंद कर लीं। हां, यह 'उसी पुरुष की आवाज' थी जिसके संगीत से मैं तीस सालों से अलग पड़ गयी थी। मैंने बीथोवन की आत्मा की आवाज सुनी और उसके सान्निध्य का अनुभव किया। मुझे एक नया जीवन-दर्शन और नई प्रेरणा मिली—उस संगीत में डूब कर मैंने अपनी आत्मा का साक्षात्कार किया...यह मेरे जन्म के तीसरे और अंतिम अध्याय की शुरुआत थी...''

अपने आखिरी पलों तक वे बापूमय जीवन जीती रहीं। उनकी जरूरतें बहुत सीमित थीं। वे खुद टाइपिंग करतीं, कपड़े धोतीं, खाना पकातीं, घर की सफाई करतीं, मिलने वालों का सत्कार भी करतीं, रेडियो-दूरदर्शन पर व्याख्यान देतीं और लेखादि लिखतीं। उमर के साथ-साथ स्वास्थ्य भी गिरने लगा। वियना जाने के बाद आर्थिक परेशानियां भी घेरने लगीं। 1977-78 में केन्द्रीय गांधी स्मारक निधि के मंत्री देवेन्द्र कुमार उनसे लंदन में मिले और उन्होंने देखा कि मीरा बहन के पास इतना पैसा भी नहीं था कि वे अपने लिए गरम कपड़े सिला सकें। वे तीन सालों से, पहले के बचे पुराने गर्म कपड़ों से ही गुजारा कर रही थीं। फिर प्रधानमंत्री इंदिरा गांधी खुद उनसे मिलीं और उन्होंने तुरंत नयी व्यवस्था बनायी।

3 नवंबर 1980 को उन्होंने एक पत्र में लिखा कि इंदिराजी की सहानुभूति से मेरी आर्थिक दिक्कतों का समाधान हो गया। 1981 में भारत सरकार ने 'पद्म विभूषण' से उनका सम्मान किया। उन्होंने बड़ी विनम्रता से राष्ट्रपति व प्रधानमंत्री को लिखा कि मैं यह सम्मान पाकर अत्यधिक द्रवित हूं। इन सालों में मैंने किया ही क्या है! मेरी अंतश्चेतना ने जिधर प्रेरित किया, मैंने वही किया। फिर भी मैं आप सबकी अत्यंत आभारी हूं।

20 जुलाई 1982 को वे उसी 'अनंत लौ' में विलीन हो गयीं, जिससे छिटक कर उन्होंने बापू की राह धरी और आजादी की, सिद्धांतों की लड़ाई लड़ी और जीवन जीने की एक कला विकसित की। ऑस्ट्रिया में मृतक के दाह संस्कार का रिवाज नहीं है पर मीरा बहन की इच्छा के मुताबिक उनके अनन्य सेवक रामेश्वर दत्त ने उनकी चिता को अग्नि दी। फिर उनकी भस्मी भारत लायी गयी और उसी ऋषिकेश और उसी हिमालय में प्रवाहित कर दी गयी जिसमें उन्होंने खुद को पाया और खोया था। ❑

यहां की लगभग ४० प्रतिशत तक जनसंख्या शहरी क्षेत्र में रहने के उदाहरण भी हैं। इस स्थिति में शहरी स्लम निवासियों की संख्या भी बहुत बढ़ गयी है।

तीसरी श्रेणी भारत जैसे विकासशील देशों की है जहां जनसंख्या का अधिक हिस्सा अभी गांवों में ही है (शहरों के कई परिवारों के भी अभी गांवों से काफी नजदीकी संबंध बने हुए हैं) पर ग्रामीण जनसंख्या का एक महत्त्वपूर्ण हिस्सा आर्थिक संकट के दौर से गुजर रहा है। इसमें मुख्य रूप से भूमिहीन मजदूर, दस्तकार व छोटे किसान सम्मिलित हैं। हालांकि कई बार मध्यम श्रेणी के किसान भी इससे प्रभावित होते हैं। इस संकट की एक मुख्य अभिव्यक्ति यह है कि अपनी ओर से भरपूर मेहनत करने के बावजूद भी अधिकांश लोग अपनी बुनियादी जरूरतें पूरी करने में असमर्थ हैं। वे कर्जग्रस्त हो रहे हैं। और बेहद अभावग्रस्त व तनावग्रस्त जीवन जीने को मजबूर हैं। कभी कोई इससे तंग आकर आत्महत्या करता है तो थोड़ी-बहुत चर्चा होती है अन्यथा यह दर्द गांव में ही समटा-दबा रहता है।

इनमें से बढ़ती संख्या में अभावग्रस्त लोग नियमित तौर पर वर्ष में कई महीनों के लिए दूर-दूर के इलाकों में मजदूरी के लिए भटकते रहते हैं। कई गांवों में अधिकांश परिवारों का यही हाल है। इसका दूसरा पक्ष यह है कि गांव के अधिकांश मेहनतकशों के बाहर रहने के कारण गांव में स्थाई, टिकाऊ विकास के अवसर प्रतिवर्ष और कम होते जा रहे हैं। अपने गांव की मिट्टी से रोटी प्राप्त करने की संभावना कम होती जा रही है और कहा नहीं जा सकता कि कब गांव से नाता टूट जायेगा या तोड़ना पड़ेगा।

अतः ग्रामीण आर्थिक संकट के संसाधन के लिए हमें ऐसी सोच चाहिए जो कमजोर वर्ग के परिवारों को अपने ही गांव में मेहनत कर बुनियादी जरूरतें पूरी करने में सक्षम बनायें। यदि गांव में रहते हुए ही सब परिवार अपनी आर्थिक जरूरतें पूरी करने में सक्षम होते हैं तो इसके साथ यह संभावना भी जरूरी है कि गांव के मेहनतकश अपने गांव व आसपास के खेत, चरागाह, वन, जल-स्रोत सुधारकर गांव के दीर्घकालीन विकास व गांव के पर्यावरण की रक्षा की संभावनाओं को निरंतर बढ़ा सकेंगे।

प्रायः यह देखा गया है कि यदि किसी गांव या गांवों के समूह के सब संसाधनों (कृषि भूमि, चरागाह, वन, लघु खनिज, जन-स्रोत आदि) का उपयोग गांव के सब लोगों की जरूरतों को पूरा करने के लिए समतामूलक आधार पर किया जाये तो गांव के सब लोगों की बुनियादी जरूरतें पूरी हो सकती हैं। साथ ही जरूरी है जल-स्रोतों की, मिट्टी के उपजाऊपन की, चरागाह व वनों की रक्षा करना। मूल बात यह है कि प्राकृतिक संसाधनों का समतामूलक उपयोग हो व उनकी रक्षा सब लोगों की भागीदारी से हो।

इसके लिए जरूरी है कि प्रकृति का विनाश करने वाली तकनीकें न अपनायी जायें। ऐसी तकनीकें न अपनायी जायें जिनसे मिट्टी का प्राकृतिक उपजाऊपन नष्ट हो या जल-स्रोतों में जहरीले रसायन पहुंचें। खाद्य चक्र को जहरीले पदार्थों से मुक्त रखना जरूरी है। जरूरत ऐसी तकनीक की है जो प्रकृति की प्रक्रियाओं को समझे व उसके अनुकूल खाद्य उत्पादन या अन्य उत्पादन बढ़ाने का प्रयास करें।

ग्रामीण अर्थव्यवस्था में कृषि के साथ अन्य रोजगार भी जुड़ने चाहिए। एक मूल सिद्धांत यह अपनाना चाहिए कि लोगों की अपनी जरूरत को पूरा करने वाले जो उत्पाद लघु व कुटीर स्तर पर स्थानीय गांव कस्बे में बन सकते हैं, उन्हें स्थानीय स्तर पर ही बनाना चाहिए। कपास की खेती गांव में अवश्य होनी चाहिए व इसके आधार पर एक मूल आवश्यकता वस्त्र, विशेषकर खादी वस्त्र का स्थानीय उत्पादन हो सकता है। सब तरह के वस्त्रों के अतिरिक्त जूते, फर्नीचर, बेकरी उत्पाद, शीतल पेय, पत्ते-गोबर की खाद, ऊर्जा के स्रोतों आदि से भी गांव आत्म-निर्भरता की राह पर काफी आगे बढ़ सकते हैं। लघु वन-उपज व लघु खनिज आधारित कुटीर उद्योग भी विकसित होने चाहिए।

गांवों में अच्छी शिक्षा व स्वास्थ्य सुविधाएं सबको समानता के आधार पर उपलब्ध होनी चाहिए। आपसी झगड़ों, शराब, अन्य मादक पदार्थ, जुए व दहेज जैसी सामाजिक बुराइयों को दूर करने के लिए गांववासियों को अपने संगठन बनाकर पंचायत के सहयोग से कार्य करने चाहिए। उसमें महिलाओं को अग्रणी भूमिका मिलनी चाहिए। लिंग, धर्म, जाति के आधार पर किसी से भी कोई अन्याय या भेदभाव रोकने का कार्य भी इन्हीं संगठनों को करना चाहिए। गांववासियों के मजबूत संगठनों की (पंचायतों की सहायता से) गांव के संसाधनों पर बाहरी तत्त्वों के नियंत्रण से बचाने व किसानों/गांववासियों के बुनियादी अधिकारों को बुलंद करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका होनी चाहिए। किसानों व ग्वालों को लघु वन उपज करने वालों को उचित मूल्य प्राप्त होना चाहिए व साथ ही उन्हें उपभोक्ताओं से सीधे संपर्क बनाने चाहिए ताकि उपभोक्ताओं को शुद्ध खाद्य मिले व किसानों/गांववासियों को उचित दाम मिले। विस्थापन की समस्याओं को न्यूनतम करना चाहिए व जहां इसके बिना काम न चले वहां कुछ जमीन छोड़ते हुए, उसका मुआवजा लेते हुए भी ग्रामीण जीवन का अस्तित्व यथासंभव आसपास के क्षेत्र में ही बचाए रखने का प्रयास करना चाहिए। ❑

'सर्वोदय जगत' के सभी सुहृद पाठकों, शुभचिन्तकों, लेखकों से अनुरोध है कि अपने महत्त्वपूर्ण आलेख, रचनाएं, विचार एवं सुझाव पत्रिका के लिए भेजें। –सं.

'बा'
रस्किन से दोस्ती

❑ गिरिराज किशोर

गांधीजी को लेकर एक बड़ा और चर्चित उपन्यास प्रस्तुत कर चुके श्री गिरिराज किशोर ने अब बा पर कलम उठायी है। बा पर कुछ भी लिखना बहुत कठिन था। नहीं के बराबर जानकारियां। 'पहला गिरमिटिया' की सामग्री जुटाने में उन्हें कोई दो हजार पुस्तकों से मदद मिली थी। और 'बा' उपन्यास लिखते समय मुश्किल से दो पुस्तकें सामने थीं। वे उन सब लोगों से मिले, जिन्हें कस्तूरबा के बारे में थोड़ी-सी भी जानकारी थी और उन जगहों पर गये, जहां बा ने थोड़ा या बहुत समय बिताया था। इस तरह बनी यह कथा, यह इतिहास बा के अलावा खुद बापू के दो और रूपों को भी सामने रखता है–पति और पिता का रूप। प्रस्तुत है 'बा' का एक अंश, जो बा-बापू : 150 के अवसर पर क्रमशः प्रकाशित हो रहे हैं।–संपा.

जब मोहनदास डरबन जा रहे थे तो हेनरी पोलक, लंदन से कुछ ही दिन पहले वहां पहुंचा था। मोहनदास का पूर्व परिचित था। उन्हें जोहान्सबर्ग स्टेशन विदा करने आया था। मोहनदास पोलक के पिता को भी जानते थे। पोलक मोहनदास के बुलाने पर ही वहां आया था। चलते समय पोलक ने एक किताब उन्हें विशेष आग्रह के साथ दी कि वे उसे जरूर पढ़ें। वह *जॉन रस्किन* की प्रसिद्ध पुस्तक *'अनटु द लास्ट'* थी। मोहनदास ने पढ़ना शुरू किया तो वे पूरी रात बैठे-बैठे उसे पढ़ते रहे थे। उस किताब में इतने डूब गये थे कि अपने को भूल गये थे। अगले दिन भी वे उसी किताब के बारे में सोचते रहे थे। वह पुस्तक यद्यपि 1862 में प्रकाशित हुई थी, कई दशक बाद वह आज भी पाठक को झकझोर देती थी। उसमें रस्किन ने लिखा था कि धन मनुष्य को अपना गुलाम बनाने का सशक्त माध्यम है। रस्किन चाहते थे कि अमीरों को अपने ऐशो-आराम पर अपव्यय न करके निर्धनों की सेवा करनी चाहिए। उन्हें समझना चाहिए कि किसी समाज की वास्तविक दौलत उस समाज के सदस्यों के कल्याण में निहित है। जब गाड़ी डरबन पहुंची तो मोहनदास अपने को उस किताब में दिये गये सिद्धांतों के अनुरूप ढालने का निश्चय कर चुके थे। उनके दिमाग में नेटाल की मेरियन हिल का वह गांव घूम रहा था। जिसे देखने वे कुछ साल पहले गये थे। वह ट्रेपिस्ट समुदाय का पूरी तरह आत्म-निर्भर गांव था। अपनी सब जरूरतें वे अपने आप पूरा करते थे। सब लोगों का आदर्श सहयोग और शांति से काम करना था।

मोहनदास ने इंडियन ओपिनियन के बारे में जो योजना प्रस्तुत की थी उससे सिवाय दो व्यक्तियों, एलबर्ट वेस्ट और मशीनमैन गोविंद स्वामी के, कोई भी सहमत नहीं था। उनका मानना था हिस्सेदारी, जिम्मेदारी सौंपती है। जबकि पगार पाने वाला व्यक्ति अपने को उससे मुक्त रखता है। बड़ी मुश्किल से अन्य लोग उनकी इस याजना को प्रयोग के रूप में लागू करने के लिए तैयार हुए। अगले दिन उन्होंने स्थानीय समाचार-पत्रों में विज्ञापन दे दिया कि रेल रोड स्टेशन के पास जमीन चाहिए। डरबन से लगभग अठारह मील फीनिक्स के एक जमींदार ने प्रस्ताव भेजा। एलबर्ट वेस्ट के साथ मोहनदास उसे देखने गये। बीस एकड़ बढ़िया जमीन, जिसमें संतरा, अमरूद और आम के पेड़ लगे थे, एक हजार पौंड में खरीद ली। मोहनदास रस्किन की किताब के माध्यम से देखे सपनों के क्रियान्वयन में लग गये। सबसे पहले एक प्रेस स्थापित किया फिर सेटिलमेंट के निर्माण में जुट गये। फीनिक्स अब उनके सपनों की प्रयोगशाला थी।

मोहनदास सोचने लगे थे कि वे प्रेक्टिस से अवकाश लेकर परिवार के साथ फीनिक्स चले जायेंगे। लेकिन हालात के कारण उन्हें अधिकतर समय जोहान्सबर्ग में रहना पड़ता था। सेटिलमेंट और अखबार चलाने के लिए काफी आर्थिक संसाधनों की आवश्यकता थी। कुछ लोग जैसे लुईस रिच, एलबर्ट वेस्ट, हेनरी पोलक, जो स्वतंत्र सोच और चेतना के हामी थे, वे मोहनदास के विचारों के प्रति समर्पित थे। दक्षिण अफ्रीका में और भी लोग थे जिन्होंने उन्हें उस समय समर्थन दिया जब बहुत कम लोग गांधी के विचारों से परिचित थे। उनका यह काम जरूर अभूतपूर्व था। पर

तब तक उनका नाम प्रसिद्ध नहीं हुआ था। कस्तूर और बच्चे समझते थे कि मोहनदास दूसरों को प्रेरणा देने और जीतने की सामर्थ्य रखते हैं।

पोलक कानून की प्रेक्टिस के लिए डरबन से जोहान्सबर्ग चला गया था। गांधी ने उसे गांधी परिवार का सदस्य बनने का न्यौता दिया था। कस्तूरबा को इससे कोई परेशानी नहीं हुई थी। वह डरबन में पहले भी मोहनदास के दफ्तर के सहयोगियों को अपने साथ घर में रख चुकी थी। पोलक के अंग्रेज होने से भी कोई परेशानी नहीं थी। संवाद की परेशानी थी। लेकिन कुछ ही समय में उसे और बच्चों को पोलक के साथ अच्छा लगने लगा था।

कुछ ही दिनों बाद पोलक की मंगेतर मिली आ गयी। वह समझती थी कि कोई भी किसी के घर में ज्यादा दिन मेहमान बनकर नहीं रह सकता। लेकिन मिली भी होने वाली पत्नी की तरह, कस्तूरबा की गृहस्थी में हिस्सेदार बन गयी। कस्तूरबा को राजकोट में संयुक्त परिवार में रहने का लाभ मिला था। संयुक्त परिवार एकलता को अपने में समेट लेता है। और सहिष्णुता और प्रतिभागिता को बढ़ा देता है। कस्तूरबा और मिली की आपस में बहुत पटने लगी थी। उन्होंने रसोई में काम करने की एक योजना तैयार कर ली थी। जब एक खाना बनाता था तो दूसरा बर्तन आदि साफ करने का काम करता था। मोहनदास दोनों के बीच दुभाषिए का काम करते थे। खाने में कोर्स भी अदलते बदलते रहते थे। मिली यह जान गयी थी कि मोहनदास, कस्तूर और बच्चे पूर्णतया शाकाहारी हैं। वह इस बात का ध्यान रखती थी। कस्तूरबा को उनके अलग से सामिष भोजन बनाने में कोई आपत्ति नहीं थी, पर मिली बनाती नहीं थी। उन दोनों ने परस्पर संवाद का हल जल्दी निकाल लिया था। मिली कस्तूरबा को काम चलाई अंग्रेजी के शब्द वस्तुओं और क्रियाओं के माध्यम से सिखा रही थी। ❑

साहित्य-समीक्षा

लोक संवेदना की कविताएं

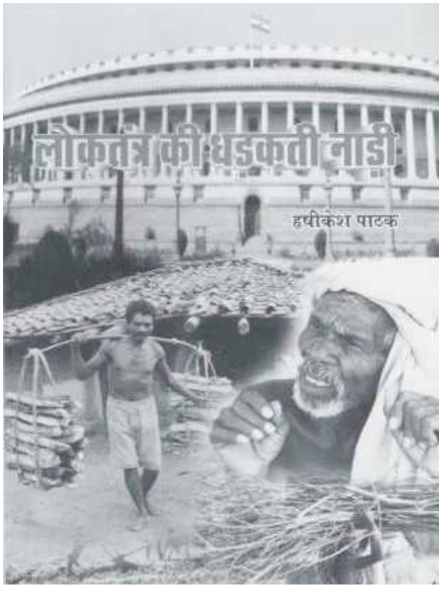

लोकतंत्र, यानी लोक के लिए, लोक के द्वारा, लोक का होकर परिचालित होने वाला तंत्र। मगर लोकतंत्र से जब लोक का लोप होने लगे और तंत्र हावी होने लगे तो यह एक लाइलाज बीमारी का सूचक है। ऐसी स्थिति में लोकतंत्र की नाड़ी का अत्यंत तेजी से धड़कना शुभ संकेत नहीं कहा जा सकता। सुपरिचित कथाकार कवि हृषिकेश पाठक का पहला कविता-संग्रह 'लोकतंत्र की धड़कती नाड़ी' न सिर्फ देश-समाज की नब्ज टटोलता है, बल्कि लोक संवेदना को झकझोरता भी है।

पाठकजी का लघुकथा-संग्रह 'स्याह सच' और 'प्लेटफार्म की एक रात' कहानी-संग्रह कथाकार के रूप में उन्हें पहचान दिला चुके हैं, जिनकी मार्फत उन्होंने विश्वसनीय यथार्थ की सृष्टि की थी। छियासठ कविताओं का संग्रह 'लोकतंत्र की धड़कती नाड़ी' सामाजिक विसंगतियों-विद्रूपताओं का आईना है। संग्रह की भूमिका में प्रख्यात नवगीतकार सत्यनारायणजी ने लिखा है कि कवि-कर्म मनुष्य के जीवन और समाज को संपूर्णता में देखता-दिखाता है, ऐसे में प्रस्तुत कविता-संग्रह अपनी सीमाओं में ही सही, अश्वस्त करता हुआ प्रतीत होता है। 'मैं और मेरी कविताएं' के तहत कवि का कथन है—'इस पुस्तक में कविताओं के अनेक रूप हैं। मेरा मतलब है कि इसमें अध्यात्म है तो समाज की घटती घटनाएं भी हैं...राष्ट्र पर भी नजर है और हृदय से किसी कोने में अंकुराते प्यार के स्वर भी हैं। शायद इन कविताओं में आपको भारतीय संस्कृति की गंगा-जमुनी तहजीब का भी दीदार हो जाये।'

हालांकि संग्रह की कविताओं का आरंभ वंदना और राष्ट्र प्रेम से होता है तथा अंत प्रण्यानुभूति से, पर अधिकांश कविताओं का मूल स्वर जनोन्मुख है और उनमें समाज के निचले तबके की तबाही के दिल दहलाने वाले मंजर साफ नजर आते हैं। शीर्षक कविता में जहां देश के जलते हालात की तस्वीर है, वहीं सामाजिक बदलाव का क्रांतिकारी आह्वान भी है। 'समाजवाद पढ़ रहा था' में समाजवाद के लुभावने सपनों के पोस्टर पढ़ते भिक्षुक की सरेराह हत्या तमाम बेसहारा लोगों के सपनों की निर्मम हत्या साबित होती है। फिर तो क्रांति का गीत गुंजायमान हो उठता है—'प्राची की अरुणिमा का रुधिर ललाट लगाता हूं/गीत क्रांति का गाता हूं।'

पुस्तक में देश की विकृत राजनीति पर

पुस्तक : लोकतंत्र की धड़कती नाड़ी (कविता संग्रह)
लेखक : हृषीकेश पाठक
प्रकाशक : आनन्दाश्रम प्रकाशन, वैशाली, गाजियाबाद (उत्तर प्रदेश)
पृष्ठ संख्या : 112, संस्करण : पहला, 2017
मूल्य : 200/-

'रहस्यमय मौन', 'देशभक्त हूं', 'धन्य हमारे नेताजी', 'मूल्यवृद्धि से क्यों घबराते हो', 'देश के नेता हैं' आदि अनेक कविताएं हैं, जिनमें लोकशाही व्यवस्था में व्याप्त राजशाही के चाल-चरित्र के कुत्सित, वीभत्स चित्र अत्यन्त बेबाकी से उकेरे गये हैं। इनमें व्यग्य की तीक्ष्ण धार चोट और कचोट से लैस है। कवि चूंकि मूलतः कथाकार है, अतः हर कविता में यथार्थ की खुरदुरी जमीन पर एक कथा करीने से पिरोई गयी प्रतीत होती है। इनमें समाजवाद की प्रतीक्षा में दम तोड़ती जिन्दगियां हैं, साम्प्रदायिक जुनून में बिछी मानवता की लाशें हैं, दिग्भ्रमित पागलपन में घर-आंगन में फैलती-पसरती आग की लपटें हैं और प्यार से रीता संसार है। बगैर किसी लाग-लपेट के कवि ने समाज, देश-दुनिया का तीखा सच उद्घाटित किया है।

स्त्री विमर्श से जुड़कर नारी के देवत्व का नमन करते हुए कवि ने उसे 'मेरे देवता' संबोधन दिया है और 'एक बार अंगड़ाई लेकर देखो' के बहाने स्त्री के सशक्तीकरण का आह्वान किया है।

'पटना का महेन्द्रुघाट', 'अपना बक्सर' और 'अपना गांव' जैसी कविताओं में गौरवशाली अतीत की सुमधुर स्मृतियां हैं तो लोकसंस्कृति के ध्वंस की मर्मभेदी दास्तान भी है। प्राकृतिक सुषमा की छटा है तो पर्यावरण-प्रदूषण की विभीषिका भी है। कवि ने 'जिओ और जीने दो' एवं 'पुरुषार्थ' को अपनाने का जरूरी आह्वान भी किया है। संग्रह में छंदोबद्ध रचनाएं हैं और मुक्तछंद की भी, पर मुक्तछंद में कवि की मुखरता ज्यादा प्रभावी है। भाषा सहज, सरल, संप्रेषणीय है और कहने का अंदाज व्यंग्यपरक। अध्यात्म, प्रणय व जीवन-दर्शन से जुड़ी कविताएं भी ध्यान खींचती हैं। कुल मिलाकर, कवि का यह पहला संग्रह दृष्टि संपन्नता का अहसास कराता है ओर रचनाशीलता के प्रति नयी संभावनाएं जगाता है।

–भगवती प्रसाद द्विवेदी

गतिविधियां एवं समाचार

गांधी-150 कार्यक्रम सम्पन्न

गांधीजी की 150वीं जयंती के उपलक्ष्य में 'गांधी-150' कार्यक्रम का आयोजन 4 फरवरी, 2018 को विवेकानंद क्लब, परमानंदपुर, म्योना तथा 9 फरवरी को जोतधनश्याम, मोहन कार्तिक शिक्षक प्रशिक्षण कॉलेज में किया गया।

उक्त दोनों कार्यक्रमों में मुख्य अतिथि के रूप में सर्व सेवा संघ के मंत्री श्री चंदनपाल उपस्थित रहे और सभा को संबोधित किया।

कार्यक्रम की अध्यक्षता दासपुर पंचायत समिति के सभापति अरुण मुखर्जी ने की। कार्यक्रम में पश्चिम बंगाल सर्वोदय मंडल के अध्यक्ष नारायण भाई, श्री बिटू भौमिक, श्री अर्थव मजूमदार, एस. आई. प्रद्युतघड़ा, आशीष आदि ने सहभाग किया और अपने-अपने विचार रखे।

उक्त दोनों कार्यक्रमों का आयोजन गांधी मिशन ट्रस्ट की सहायता से किया गया।

–स. ज. प्रतिनिधि

सजा के बजाय स्वानुशासन जरूरी

राष्ट्रीय युवा योजना के निदेशक डॉ. एस. एन. सुब्बराव ने कहा कि प्रकृति से मनुष्य को वह शक्ति मिली हुई है, जिससे वह अपने आपको बदल सकता है, बुरे से बुरा आदमी भी यदि निश्चय कर ले तो वह एक दिन अच्छा बनकर दिखा सकता है।

भाईजी 11 फरवरी को बा-बापू की 150वीं जयंती अभियान के तहत 'गांधी विचार आपके द्वार' कार्यक्रम में युवाओं को संबोधित करते हुए वर्तमान में बिगड़ते वातावरण पर चिन्ता प्रकट की। आगे उन्होंने कहा कि बुरे इंसान को सजा के बजाय उसे सख्त अनुशासन अपनाने के लिए प्रेरित किया जाय तो ज्यादा अच्छे परिणाम सामने आयेंगे। आज सारे देश में स्व-अनुशासन की आवश्यकता है। वास्तव में मनुष्य के मन में शांति की जरूरत है।

युवा गांधीवादी विचारक रमेशचन्द्र शर्मा ने कहा कि आजादी के बाद देश में हिंसा, नशा, भूख, शोषण लगतार बढ़ता जा रहा है। आज देश को नये सिरे से जोड़ने की जरूरत है।

गांधी शांति प्रतिष्ठान केन्द्र के सचिव डॉ. भावेन्द्र शरद जैन ने केन्द्र में चलने वाली रचनात्मक गतिविधियों एवं गांधी तत्त्व प्रचार की विस्तार से जानकारी दी तथा सद्भावना यात्रा को वर्तमान की नितांत जरूरत बताया। कार्यक्रम में प्रबुद्ध गांधीवादी चिन्तकों सहित गो-सेवक व सर्वोदयी विचारक त्रिलोकचंद गुलेछा, गांधी विचार युवा वाहिनी की समन्वयक शशिबहन त्यागी, मीरा संस्थान की अध्यक्ष आशा बोथरा, इंडोनेशिया के अम्मा पार्वती, नीकोया मेत्रयी, निमड़े संतरे एवं इंद्रा उपस्थित रहे।

कार्यक्रम की शुरुआत भाईजी ने 'एक जगत की धरती माता, सब उसकी संतान' युवा गीत से की। संचालन डॉ. भावेन्द्र शरद ने किया। **–डॉ. भावेन्द्र शरद जैन**

पुण्य-तिथि पर स्मरण

राष्ट्रपिता महात्मा गांधी की धर्मपत्नी कस्तूरबा गांधी की पुण्यतिथि पर 22 फरवरी, 2018 को गांधी स्मारक भवन, चंडीगढ़ में श्रद्धांजलि सभा का आयोजन किया गया। दूरदर्शन केन्द्र चंडीगढ़ के निदेशक डॉ. एम. एन. मन्हास मुख्य अतिथि तथा मुख्यवक्ता प्रसिद्ध इतिहासकार डॉ. एम. एम. जुनेजा रहे। अध्यक्षता के. के. शारदा ने की।

इस अवसर पर डॉ. त्यागी ने कहा कि कस्तूरबाजी स्वतंत्रता आंदोलन के दौरान कई बार जेल गयीं और अंतिम सांस जेल में ही लीं। डॉ. एम. एम. जुनेजा ने कस्तूरबा गांधी का महात्मा गांधी के जीवन में अद्वितीय योगदान का उल्लेख किया।

इस अवसर पर नगर के बुद्धिजीवी वर्ग एवं विभिन्न संस्थाओं के प्रमुख एवं प्रतिनिधि उपस्थित रहे। **–देवराज त्यागी**

राखी सिंह की तीन कविताएं

(एक)

एक सूरज है मन में
जो हर रोज उगता है
मौसम के असर से बेअसर
समयचक्र के नियम से स्वतंत्र
सख्त, स्थिर, तटस्थ सूरज
इसके प्रकाश ने
मार्ग रोका अंधकार का,
इसके ताप की ऊर्जा ने
पिघलाये रखा
उन बर्फ की सिल्लियों को,
पूस से जीवन की पीठ
गलती रहती जिनपर।

कुछ घुसपैठ कोहरे, कुछ कुहासे
छाते हैं मन पर कभी कभी,
सुरसुराती है
जेठ से लम्बी उम्र की
तपती काया,
थक जाता है सूरज भी
आग उगलकर
मूंद लेता है वो
जलते नेत्र अपने

कोहरे पसर चले थे
कोने कोने
इधर उधर,
मन सावन हुआ
मन भीग चला
कोहरे बारिश बने
डुबोने को आतुर हुए
मन ने डूबना
स्वीकार किया

भूल चला था मन
कोहरा मौसम है
मौसम, बदलना ही
नियति है जिसकी

भूल गया था कोहरा,
सूरज अभी डूबा नहीं
वो सूरज, जिसकी तपन के आगे
नहीं टिकेगी कोई नमी।

(दो)

जब विपरीत चल रहा हो
समय चालें अपनी,
जब लगे कि सारे ग्रह-नक्षत्र
लगे हैं षड्यंत्रों में,
जब सारी दिशाएं बदलजाये
शकुनि की गोटियों में, और
अपनी समस्त ऊर्जा
द्यूतगृह में सब गंवा चुके
युधिष्ठिर की भांति
बैठी हो शीश झुकाए,
जब अंधकार पूरी ताकत से
मार्ग रोके हों प्रकाश का,
पूरे वेग में पीड़ाएं आतुर हो
अस्तित्व में समाहित हो जाने को

तब,
इससे पहले कि हथेलियां
जुड़ जायें प्रार्थना में
तुम्हारी हथेली का स्पर्श
याद आता है,
किसी देव के दर पर नतमस्तक
हो जाने से पहले
तुम्हारी गोदी का सिराहना
खोजता है माथा,
ईश्वर के जाप से पहले,
ग्रहों को शांत करने के बताए गये
कर्म-कांड से पहले
जो मंत्र निकलता है मुख से
वो तुम्हारा होता है, मां!
ये जानकर भी कि
तुम हो वहां जहां से
आओगी नहीं
व्याकुल मन पुकारता है
तुम्हें...
नी माए!

(तीन)

कैसी उठती है टीस
तुम क्या जानो
कैसा हुमगता है मन
नहीं समझोगे
चोटिल जब तन नहीं
निशान जो दिखते नहीं
क्या होती है पीड़ा
जो तुमने सही नहीं
तुम क्या जानोगे

झर जाते हैं सब पत्ते
कैसी होती है ठूंठ उम्मीद
कुरूप होता है पतझड़ मन का,
तुम पूनम रात्रि के साथी
जब घिरता है अमावस
गहन कितनी होती है नीरवता
क्या जानोगे

असहाय होती है प्रतीक्षा
घिसटकर रेंगता है अपंग समय
कितने कुलांचे भरती है इच्छा
कैसे दम तोड़ती है आशा,
हंसते होंठो के ढोंग पर
नेत्र चुपचाप टपकाता है
एक बूंद
कितना खारा होता है पानी
तुम्हें समंदर का नमक पता है
रहने दो,
क्या जानोगे... ❑

सर्व सेवा संघ (स्वत्वाधिकारी) के लिए महामंत्री, शेख हुसैन द्वारा सर्व सेवा संघ परिसर, राजघाट, वाराणसी (उ.प्र.) 221001 से प्रकाशित तथा प्रिन्टेक, इंडियन प्रेस कॉलोनी, मलदहिया, वाराणसी से मुद्रित। प्रधान संपादक : बिमल कुमार / संपादक : अशोक मोती।